सफलता के रहस्य

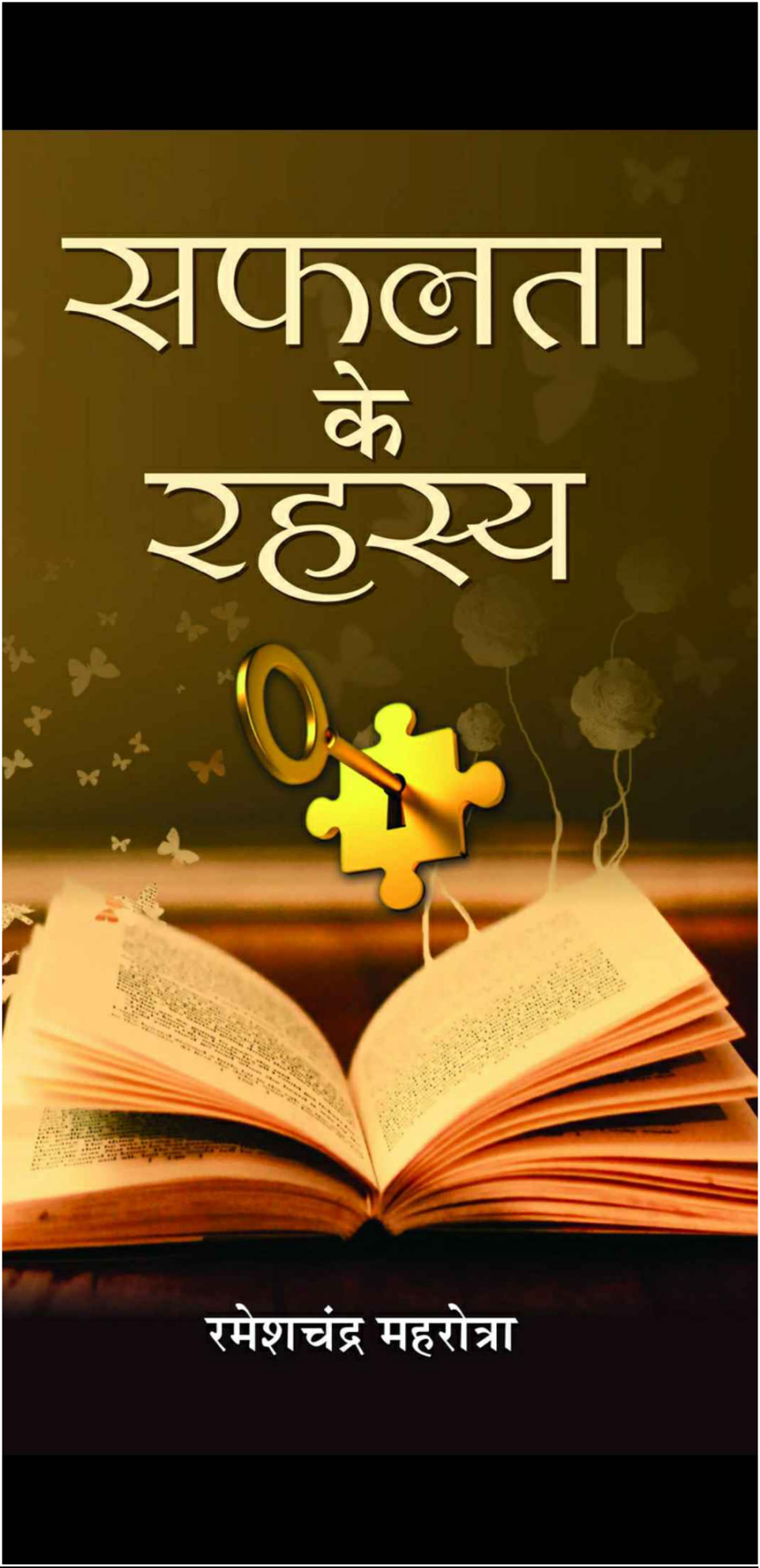

रमेशचंद्र महरोत्रा

सफलता के रहस्य

रमेश चंद्र महरोत्रा

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

मनुष्यता को विभूषित करने की सनातन इच्छा

सनातन प्रश्न है, 'इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ कौन है?' भारत की शास्त्रीय मान्यता है—

गुह्यात् ब्रह्म तदिमं वदामि।

न हिमानुवात श्रेष्ठतरं हि किंचत्॥

(—मानव से श्रेयस्कर और कोई नहीं—यही समग्र रहस्यों का रहस्य है, जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ।)

स्पष्ट है, भारतीय जीवन-दर्शन के केंद्र में सदैव मनुष्य रहा है। दिन-प्रतिदिन असंख्य नकारात्मक सूचनाओं की बाढ़ से घिरे हुए हम लोगों को कई बार लगता है कि मनुष्य हिंस्र, असभ्य, स्वार्थी, लोभी और भोगवादी होता जा रहा है। मीडिया से जो कुछ कौंधता है, उससे लगता है कि समाज ढलान पर फिसल रहा है। लोग कहते हैं कि सारे मूल्य ध्वस्त होते जा रहे हैं। संवेदनहीनता बढ़ रही है। यह भी कि चारों तरफ धन की सत्ता, पाशविकता का प्रभुत्व और कुटिलता का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। अर्थ यह कि मनुष्यता से विश्वास उठने के अनेक कारण हमारे सामने उपस्थित हैं। परंतु क्या यह पूर्ण सत्य है?

मेरा अनुभव है, नहीं, ऐसा नहीं है। आधुनिक विश्व के विचारकों का निष्कर्ष भी यही है कि आज का मानव अतीत के मनुष्य की अपेक्षा न तो अधिक बर्बर हुआ है और न ही असभ्य। एक देवासुर संग्राम है जो प्रत्येक मनुष्य के मन में निरंतर चलता रहता है। आसुरी प्रवृत्तियों को परास्त करके सत् प्रवृत्तियों की विजय की कामना हिलोरें लेती रहती है। फर्क सिर्फ इतना है कि बहुत से लोग इन अच्छी बातों को देखते नहीं, या देखना नहीं चाहते। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।'

मनुष्यता को विभूषित करनेवाले कुछ प्रसंगों को विस्मृत कर पाना असंभव है। पहला प्रसंग उस खूनी दौर का है जब उन्माद की आँधियों से मनुष्य का विवेक डाँवाँडोल था। १४ अगस्त, १९४७ का दिन अभी आँखें खोल ही रहा था। पश्चिमी पंजाब के जिला गुजरात का कस्बा कुंजाह उसी दिन घोषित हुए पाकिस्तान में आ गया था। दादा-दादी रोजमर्रा की तरह मंदिर चले गए थे। मैं घर के सामने बैठा उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। अचानक गली के एक सिरे से जुनून

का उठता हुआ शोर सुनाई दिया। कुछ मकानों से भभकती हुई आग की लपटें दिखाई देने लगीं। भयाक्रांत हाहाकार से दिशाएँ काँपने लगी थीं। जुनूनियों की भीड़ पास आती मालूम होने लगी थी। जाहिर है, मैं बुरी तरह भयभीत था। समझ में नहीं आ रहा था, क्या करूँ।

उन्हीं संगीन लम्हों में देखा, जैनब बेतहाशा दौड़ती हुई मेरी तरफ आ रही थी। लपककर उसने मुझे गोद में उठाया और मुझपर हरी चादर ओढ़ाकर मुझे सीने से लगा लिया। किसी फरिश्ते की तरह प्रकट हुई जैनब। जिस रफ्तार से आई थी उसी रफ्तार से दौड़ती हुई मुझे अपने घर में ले गई। जैनब कश्मीरी मूल की शिया थी। छुटपन से मुझे नहलाती-धुलाती और मेरी मालिश किया करती थी। पंजाब के पीर बुल्लेशाह की मुरीद थी। शायद इसीलिए उसने मेरा नाम रख दिया था—बुल्लाह। हमेशा 'बुल्लाह' कहकर ही पुकारती।

जैनब के घर पहुँचने के तुरंत बाद मुझे हरी कमीज और सफेद सलवार पहना दी गईं। शायद घर के किसी बच्चे की थीं, और मुझे ढीली थीं। मेरे सिर के बाल भी कपड़े काटनेवाली कैंची से काटकर बहुत छोटे कर दिए गए। सिर की चोटी साफ कर दी गई। इसी बीच कालू खान दादाजी और दादी को मंदिर से लेकर जैनब के घर पहुँच गए। कालू खान दादाजी के बालसखा थे और साथ ही उनके कारोबार में उनके सहायक भी।

यह वह समय था, जब सांप्रदायिक भावनाएँ बुरी तरह भड़की हुई थीं। बच्चों को नेजों पर उछाला जा रहा था। स्त्रियों पर पाशव अनाचार किया जा रहा था। बाहर जुनूनी जत्थे मुनादी कर रहे थे कि काफिरों को पनाह देनेवाले भी नहीं बख्शे जाएँगे। ऐसे नाजुक वक्त में जैनब और कालू खान के परिवारों ने हमें दो सप्ताह से अधिक समय तक अपने घरों में छुपाकर रखा और कुछ फौजियों को रिश्वत देकर रक्तस्नात सरहद के उस पार अमृतसर तक पहुँचाया। उन दो हफ्तों के दौरान रात के अँधेरे में हमें प्रायः हर दूसरे-तीसरे दिन एक स्थान से दूसरे और दूसरे से तीसरे-चौथे स्थान पर पहुँचाया जाता रहा, ताकि जुनूनी हत्यारों के हाथों पड़ने से हमें बचाया जा सके। मनुष्यता का इससे बड़ा प्रमाण मेरे लिए और क्या हो सकता था?

सरहद के उस पार की इनसानियत को हमने देखा था। अमृतसर के शरणार्थी शिविर में पहुँचे तो पाया, लुट-पिटकर आए हिंदुओं और सिक्खों की देखरेख के लिए बड़ी संख्या में स्वयंसेवी संस्थाओं के लोग सक्रिय थे। उनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता अधिक संख्या में थे। उनमें एक अधेड़ सज्जन थे, जिन्हें भगतजी कहा जाता था। पता चला कि भगतजी ने कई दिनों तक अपने परिचित दो मुसलमान परिवारों को अपने घर की परछत्ती में छुपाकर रखा था। इस काम में उनके पड़ोसियों ने भी उनकी मदद की थी। दूसरे मुहल्ले के लोगों को इसकी भनक भी लग गई थी। भगतजी के घर पर हथियारबंद उन्मादियों की एक टोली ने धावा भी बोला; परंतु बड़े साहस के साथ भगतजी ने पड़ोसियों

के सहयोग से दोनों मुसलिम परिवारों को पुलिस के संरक्षण में उस कैंप तक पहुँचवा दिया, जहाँ से मुसलमानों को सेना की मदद से पाकिस्तान की सीमा तक पहुँचाने की व्यवस्था भारत सरकार ने की थी।

एक प्रसंग उत्तरकाशी के भूकंप के समय का है। संभवतः अक्तूबर १९९१ की बात है। उन दिनों मैं दिल्ली के साप्ताहिक समाचारपत्र 'संडे ऑब्जर्वर' में था। जैसे ही टेलीप्रिंटर पर उत्तरकाशी के विनाशक भूकंप की खबर मिली, ऑब्जर्वर ग्रुप के चीफ फोटोग्राफर संदीप शंकर के साथ मैं उत्तरकाशी की ओर रवाना हो गया। भोर होने से पहले ही हम उत्तरकाशी नगर में पहुँच गए थे। भूकंप से तबाही के साक्ष्य हमें रास्ते में ही मिलने लगे थे। भोर का झुटपुटा था और सरकारी मशीनरी अभी सोकर नहीं उठी थी। परंतु उत्तरकाशी के निकट स्थित स्वामी शिवानंदजी के दिव्य जीवन संघ के संन्यासी पिछले कई घंटों से भूकंप-पीड़ितों के बचाव एवं राहत के काम में जुटे हुए थे। प्राकृतिक प्रकोप की खबर लगते ही वे अपने आश्रमों से निकलकर उन स्थानों की तरफ दौड़ पड़े थे जहाँ भूकंप से तबाही हुई थी। उनमें चिकित्सा, न्यायपालिका, सिविल सेवाओं के ऊँचे पदों से सेवानिवृत्त अनेक ऐसे वरिष्ठ नागरिक थे जो अपने घरों की तमाम सुख-सुविधाओं का परित्याग करके आश्रम में अत्यंत सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। जिस तत्परता के साथ उन्होंने मलबे में दबे लोगों को बाहर निकालने, घायलों को प्रथमोपचार देने तथा गंभीर रूप से घायल लोगों को अस्पताल तक पहुँचाने का काम स्वयंस्फूर्त किया था, वह वंदनीय था। मनुष्यता के ये अनन्य सेवक आत्मप्रचार से इतने निस्पृह कि पत्रकारों एवं प्रेस फोटोग्राफरों से लगातार कतराते रहे। सेवा में जो असीम सुख उन्हें प्राप्त होता था, वे उसीमें मगन थे। इस सुख की प्रतीति इंद्रियों से नहीं, परम पवित्र मन से ही हो सकती है। इस सुख की स्थायी अनुभूति की ओर बढ़ना ही श्रेयस्कर मनुष्य बनने की राह पर चलना है।

सभी लोग संन्यासी तो नहीं हो सकते, परंतु अच्छे इनसान तो बन सकते हैं। श्रेयस्कर मनुष्य बनने का मार्ग यदि कोई संन्यासी बताए तो सुखद लगता है। रामकृष्ण मिशन, विवेकानंद आश्रम, रायपुर के सचिव पूज्यपाद स्वामी सत्यरूपानंद के एक व्याख्यान पर आधारित अंग्रेजी की पुस्तक 'यू कैन बिकम ए बैटर पर्सन' में श्रेयस्कर मनुष्य बनने के व्यावहारिक उपाय बताए गए हैं। स्वामीजी की अनुमति से उन उपायों का सार-संक्षेप यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

'हम जैसे हैं, उससे श्रेयस्कर बन सकते हैं। श्रेयस्कर होने का अर्थ है मानव के उन उदात्त गुणों का सर्वतोमुखी विकास, जो उसे अंततः दिव्यता की ओर ले जाता है। दिव्यता के समस्त गुण मनुष्य में निहित हैं। आवश्यकता होती है उन्हें चैतन्य करने की। इसलिए इस जगत् के साथ ही मनुष्य को अपने बारे में भी जानना चाहिए। आत्मज्ञान बेहतर इनसान बनने का प्रथम सूत्र है।

'श्रेयस्कर मनुष्य बनने के लिए अच्छी और नियमित आदतें विकसित की जानी चाहिए। पहली अच्छी आदत है खाने में संयम बरतना। जो अच्छा बनना चाहता

है उसे न अधिक खाना चाहिए, न अपनी जिह्वा का गुलाम बनना चाहिए। (सूफी संत शेख सादी ने कहा था कि कम खाने से शरीर आत्मा बन जाता है और ज्यादा खाने से आत्मा भी देह बन जाती है।)'

स्वामी सत्यरूपानंदजी के अनुसार, 'श्रेयस्कर मनुष्य बनने के लिए दूसरी अनिवार्यता है नियमित व्यायाम। याद रखिए, प्रकृति ने मनुष्य शरीर को कठोर श्रम के लिए निर्मित किया है। शरीर ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम जीवन की प्रत्येक श्रेष्ठ तथा सुंदर वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। जब तक शरीर स्वस्थ और चुस्त-दुरुस्त नहीं रहेगा, हम अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकेंगे। बिना नियमित व्यायाम के शरीर चुस्त-दुरुस्त रह नहीं सकता। इसलिए प्रत्येक वह व्यक्ति, जो श्रेयस्कर मनुष्य बनना चाहता है, उसे उसी प्रकार नियमित व्यायाम करना चाहिए जिस प्रकार नियमित भोजन लिया जाता है।

'तीसरी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है विश्राम और निद्रा की। निद्रा एवं विश्राम के दौरान हमारी मांसपेशियों एवं तंतुओं की मरम्मत होती है। ऊर्जा का संचार होता है।

'शारीरिक सुख की तुलना में मानसिक सुख अधिक स्थायी होता है, मानसिक सुख की तुलना में बौद्धिक सुख अधिक टिकता है; किंतु इन सभी सुखों से अति श्रेष्ठ एक और सुख है, जिसका अनुभव हम प्रतिदिन करते हैं—और वह सुख है निद्रा का सुख।

'किसी व्यक्ति से यदि कहा जाय कि हम तुम्हें शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सुख तुम जितनी मात्रा में चाहो और जितने लंबे समय तक चाहो, दे सकते हैं, किंतु तुम्हें सोने नहीं दिया जाएगा, तो क्या कोई भी व्यक्ति इसके लिए राजी होगा? संसार का परम लंपट व्यक्ति भी जब भोग से थक जाता है तब वह सोना चाहता है। नींद के समय संसार का कोई भी भोग उसे आकर्षित नहीं कर पाता। इस प्रकार हम पाते हैं कि हमारे जीवन का सर्वश्रेष्ठ सुख निद्रा का सुख है।'

अध्यात्म और मनोविज्ञान दोनों मानते हैं कि जिस व्यक्ति का मन निर्मल है और जो मनोयोग से अपने दैनंदिन दायित्वों का निर्वाह करते हुए कठोर श्रम करता है वह निर्विघ्न निद्रा का अधिकारी बनता है। दूसरों को सुख पहुँचाना और समस्त ब्रह्मांड के कल्याण की कामना करना मन की निर्मलता के सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं। हमारी परंपरागत प्रार्थना है—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

(—सभी सुखी रहें, सभी स्वस्थ रहें। सभी उन समस्त बातों की प्रतीति करें जो अच्छी हैं और कोई भी दुःख का भागी न बने।)

भारतरत्न से अलंकृत सुप्रसिद्ध संगीतकार रविशंकर ने समग्र ब्रह्मांड के कल्याण की प्राच्य भारतीय कामना से प्रेरित होकर एक अनुपम संगीत रचना की

है, जिसके शब्द हैं—'भूमिमंगलम्। उदकमंगलम्। अग्निमंगलम्। वायुमंगलम्। गगनमंगलम्। सूर्यमंगलम्। चंद्रमंगलम्। जगत्मंगलम्। जीवमंगलम्। देहमंगलम्। मनोमंगलम्। आत्ममंगलम्। सर्वमंगलम्, भवतु भवतु भवतु।'

इस प्रकार की प्रार्थनाएँ और संगीत रचनाएँ अंतःकरण में एक जोत-सी जला जाती हैं। अंतःकरण का दीप्त हो जाना श्रेयस्कर मनुष्य के निर्माण का सारा साजो-सामान जुटा जाता है। संतों, ज्ञानियों और दिव्यात्माओं का मानना है कि ब्रह्मांड की सर्वोच्च शक्ति में विश्वास मनुष्य को निःशंक, निर्भय और निश्चिंत बनाता है। तुलसी की कालजयी कृति 'रामचरितमानस' का सृजन एक अचल विश्वास ने ही तो कराया था—'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।'

कहा गया है, 'विश्वासं फलदायकम्'। इसलिए अच्छा बनने के लिए और अच्छा बनने में विश्वास की भूमिका संभवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जो लोग धर्म, ईश्वर और अध्यात्म आदि को नहीं मानते उनके लिए भी किसी-न-किसी शक्ति, विचार अथवा व्यक्ति पर आस्था रखना लाभदायक होगा। जीवन-निर्माण पर केंद्रित पुस्तकों के सुप्रसिद्ध लेखक नॉर्मन विन्सेंट पील ने चिकित्सक हरबर्ट बेंसन के जीवन भर के अनुभवों का हवाला देते हुए लिखा है कि आस्था व्यक्ति को सतत आनंद देने के अलावा अनेक शारीरिक-मानसिक व्याधियों से भी उसकी रक्षा करती है। डॉ. बेंसन, एम.डी. ने बताया, 'मेरे और अन्य अनेक चिकित्सकों के अनुसंधान से यह निष्कर्ष निकला है कि आस्था एवं विश्वास के संचार से सिर का दर्द दूर किया जा सकता है, बहुत हद तक हृदय रोगों का शमन किया जा सकता है, मानसिक व्यवधान दूर करके सृजन शक्ति विकसित की जा सकती है, अनिद्रा रोग पर काबू पाया जा सकता है, रक्तचाप को नियंत्रित किया जा सकता है, चिंताजन्य अनेक रोगों—यथा वमन, कब्ज, अतिसार, चिड़चिड़ेपन, घबराहट आदि पर काबू पाया जा सकता है, तनाव को कम करके भीतरी शांति प्राप्त की जा सकती है और कोलेस्ट्रॉल के स्तर को भी कम किया जा सकता है।'

आस्था के इस बोनस को प्राप्त करने के लिए कोई सांसारिक व्यक्ति भी लालायित होगा। तो क्यों न अच्छा बनने की सुखकारी यात्रा आस्था के रास्ते पर कदम बढ़ाकर शुरू की जाय? इस दृष्टि से सुप्रसिद्ध भाषाविद् और विचारक डॉ. रमेश चंद्र महरोत्रा की यह पुस्तक निस्संदेह प्रेरक होगी।

—रमेश नैयर

समता कॉलोनी,
रायपुर-४९२००१

पत्नी के दो शब्द

हर आदमी जानता है कि अच्छा आदमी कौन होता है; पर उसकी संपूर्णता को परिभाषा में बाँधकर बता पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है। यदि लोगों से कहा जाए कि बीस शब्दों में बताओ कि अच्छा आदमी किसे कहोगे, तो (बिना किसीकी नकल मारे) किन्हीं दो का जवाब बिलकुल एक-सा होने की कोई उम्मीद नहीं है। इसका मतलब यह है कि अच्छे आदमी एक-दूसरे से भिन्नताएँ रखते हुए भी हजारों-लाखों हो सकते हैं। आप तो खैर हैं ही (वरना आप इस पुस्तक के शीर्षक की ओर आकर्षित न होते)।

इस पुस्तक में प्रवचन नहीं हैं। इसमें हमारे चारों ओर की रोजमर्रा की अच्छी-बुरी कथनियों और करनियों के सैकड़ों शब्दचित्र और कथाचित्र हैं, जो बदरंग हवाओं के बीच खिलते हुए सुनहरे जीवन की दावत दे रहे हैं। पुस्तक को पढ़कर आपका मन एक बार जरूर मचल जाएगा कि आप अधिकाधिक अच्छा बनने की दिशा में सजाए गए इन रास्तों पर दौड़ पड़ें।

—उमा महरोत्रा

डगनिया,
रायपुर-४९२०१३

लेखक के दो शब्द

संसार में कोई भी आदमी ऐसा नहीं होता जिसमें थोड़ी-बहुत अच्छाइयाँ न हों। 'अच्छाइयाँ' माने 'गुण'। गुणों की संख्या इतनी अधिक और इतनी बहुमुखी है कि उन्हें शब्दकोश और आदमियों के मुँह नहीं गिना सकते। यही कारण है कि 'अच्छे-से-अच्छा' आदमी भी 'सबसे अच्छा' और 'सबके लिए अच्छा' नहीं हुआ करता—उसके लिए और अधिक अच्छा बनने की गुंजाइश सदा रहती है। ऊँचाई आसमान है।

केवल अपने लिए अच्छा होना अच्छा होने की कोई कसौटी नहीं है। उसका मतलब मूलतः दूसरों के लिए अच्छा होना है। इन दूसरों का दायरा जितना अधिक बड़ा होगा आदमी उतना ही अधिक अच्छा होगा। गांधी और कबीर को याद कीजिए। अच्छा बनना सतत साधना से ही संभव है। त्याग के बिना कोई उपलब्धि नहीं होती।

इस पुस्तक में आपको अच्छाई की तरफ ले जानेवाले दर्जनों रास्ते पढ़ने को मिलेंगे। इनपर चलने, और कितनी दूर चलने, का निर्णय आपको स्वयं करना है। लेखक का यह अटूट विश्वास है कि इन रास्तों पर निरंतर चलनेवाले लोग ही मानवता के खंडहर नहीं होने दे रहे हैं।

—रमेश चंद्र महरोत्रा

रविशंकर विश्वविद्यालय,
रायपुर-४९२०१०

गुप्तदान और यश

एक साहब ने जब अपने दोस्तों के बीच यह कहा कि गुप्तदान केवल वे लोग करते हैं, जिन्हें दो नंबर की कमाई छिपानी होती है (या फिर बहुत ही कम राशि दान में देनी होती है, जैसे—दो-तीन रुपए), तो उनके एक पंडित दोस्त ने प्रतिवाद करते हुए उनसे पूछा, 'लेकिन पुराने जमाने में जब आय कर नहीं लगता था, तब भी गुप्तदान को महादान क्यों कहा जाता था?'

साहब ने जवाब दिया—'उसका कारण यह है कि जो लोग उस समय दान नहीं दिया करते थे, वे ईर्ष्यावश यह नहीं चाहते थे कि दान देनेवालों का समाज में नाम हो और यश फैले। दानदाता बेचारा अपने सीधेपन में खुद को 'महादानी' मानने के चक्कर में गुप्तदान दे दिया करता था; जबकि असलियत यह है कि उसके 'महादानी' क्या, 'दानी' मात्र होने के बारे में भी कोई नहीं जान पाता था। उधर, दान लेनेवाला चालाक आदमी भी विविध कारणों से यह छिपाना चाहता था कि उसपर किस-किसने कृपा की है। वह दान की राशि आदि तो डकार लेता था, लेकिन दानी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित नहीं करना चाहता था। यह दान पानेवाले का ओछापन था।'

लेखक का मानना है कि दान देनेवाले आदमी को अपना नाम जरूर आउट करना चाहिए और जितना क्रेडिट उसका ड्यू हो उतना उसे ईमानदारी से मिलना चाहिए। कम भी नहीं और ज्यादा भी नहीं। यह उसके अच्छे काम के पुरस्कार का तकाजा है। यह भी हो सकता है कि उसका नाम फैलने के कारण कुछ अन्य लोग उसके साथ कार्य विशेष के लिए दान देने को प्रेरित हो जाएँ।

ढोंग करने की जरूरत नहीं है। सही अर्थों में हर प्रबुद्ध व्यक्ति नाम और यश के लिए जीता है। उसे उसके लिए जीना भी चाहिए; क्योंकि किसीको नाम और यश तभी मिलता है जब वह समाज के लिए कुछ करता है। सिर्फ अपने लिए करनेवाले लोग घोर असामाजिक और सबसे निम्न श्रेणी के प्राणी होते हैं। वे ही यश के बारे में नहीं सोच पाते, क्योंकि वह उनके कद से बहुत ज्यादा ऊँचाई पर होता है। उनके जीवन का लक्ष्य खा-पीकर मर जाने के अलावा कुछ नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि आदमी अपने साथ संसार से यश को छोड़कर कुछ भी नहीं ले जाता—न धन-संपत्ति, न शरीर का कोई अंश। इसके विपरीत, यश उसका साथ उसके मरने के सैकड़ों साल बाद तक देता है। हमारे लिए सबसे अधिक पूज्य विभूतियाँ भगवान् गौतम बुद्ध, संत कबीर, स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी आदि अपने नाम और यश के कारण ही सदा के लिए अमर हैं। उन्होंने यह नाम और यश अपने जीवनकाल में समाज को सभी प्रकार के दान दे-देकर अर्जित किया था। उनके द्वारा मानव को दिए गए संपूर्ण देय को दुनिया

जानती है। कुछ भी गुप्त नहीं है। यदि वे अपना दान गुप्त रूप से करते तो न तो उनका नाम-पता कोई जानता और न उनके असीम अवदान से कोई प्रेरणा ले पाता। तब वे हमारे आदर्श न बन पाते (क्योंकि तब वे गुप्त और लुप्त होते)। स्वयं गांधीजी ने बिना नाम-यशवालों से नहीं, नाम-यशवाले 'सत्यवादी हरिश्चंद्र' नाटक के नायक के चरित्र से सत्य की तथा आर्नल्ड के 'बुद्ध चरित्र' से गौतम बुद्ध के त्याग की प्रेरणा ली। उनपर ईसा के 'गिरि-प्रवचन' का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और उन्होंने तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ स्वीकार किया।

अंत में, यदि संसार में हजारों बड़े-बड़े लोगों की करनी को गुप्त रखना और उन्हें यश से वंचित किया जाना सही होता तो आत्मकथाएँ न लिखी जातीं और न पढ़ी जातीं, न अभिनंदन समारोह आयोजित किए जाते, पुण्यतिथियाँ और जन्मशताब्दियाँ न मनाई जातीं। यश के बारे में तिरुवल्लुवर की सूक्ति है कि उसके अतिरिक्त अन्य कोई स्थायी संपत्ति संसार में नहीं है।

❋ गंदगी और सफाई ❋

एक उच्च पदस्थ अधिकारी के मकान के सामने जानेवाली नाली में जगह-जगह इतना कचरा फँस गया था कि कीचड़ और अन्य गंदगी ऊपर की ओर फैलने से रास्ते में आगे-पीछे खूब सड़ाँध फैल रही थी। उन्होंने खुद नाली की सफाई करनी शुरू कर दी, जिसे देखकर अड़ोस-पड़ोस के कुछ लोगों ने उन्हें इज्जत देते हुए उनसे कहा, 'अरे, आप यह सब क्यों कर रहे हैं? यह काम जमादार का है। आपके हाथ गंदे हो जाएँगे।' इसपर अधिकारी महोदय ने जवाब दिया—'मेरे हाथ इतने निरीह नहीं हैं कि कीचड़ आदि इन्हें बरबाद कर सके। ये साबुन से एक मिनट में जैसे-के-तैसे साफ हो जाएँगे।' बात जँची।

सचमुच, यह क्या फालतू का नियम बना रखा है कुछ अविवेकी लोगों ने कि गंदगी की सफाई का काम सिर्फ जमादार लोग करेंगे! मानो जमादारों के हाथ किसी और मिट्टी के बने हों...जबकि सच्चाई यह है कि पैदा सब लोग बिलकुल जमादारों और उनके बच्चों के समान ही होते हैं—सबके सब बिलकुल नंगे।

यदि सफाई करनेवाले व्यक्ति किसी कारण से कुछ दिन हड़ताली तौर पर नहीं आते हैं और आप खुद सफाई करने के काम को इतना हलका मानते हैं कि उससे आपका स्तर एकदम ढह जाता है तो आपके सामने यही विकल्प बचता है कि आप सड़ाँध को सूँघते रहिए, क्योंकि आप अपना मकान तो उठाकर किसी और जगह ले नहीं जा सकते।

यहाँ 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' को व्यापक संदर्भ में सोचा जा सकता है, जिसका भावार्थ निकलता है कि सुखी रहने के लिए स्वाधीनता अनिवार्य है।

लेकिन आदमी का हर मामले में स्वाधीन और आत्मनिर्भर रहना संभव है क्या? नहीं। तो फिर? तो फिर यह कि जहाँ-जहाँ भी वह पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ सकता है वहाँ-वहाँ उन्हें तोड़कर अपने को परवशता अर्थात् गुलामी से मुक्त रखना सीखे... जबकि उपर्युक्त प्रकरण में वह ऐसे लोगों का गुलाम बन जाता है—उनपर पूर्णतः निर्भर होकर—जिन्हें वह अपने से बहुत छोटा मानने का भ्रम और दंभ पाले रहता है।

स्थिति यह है कि नगरों की आधी बस्तियाँ गंदी रहा करती हैं, जिसके लिए जिम्मेदार प्रायः सभी नागरिक हुआ करते हैं। अब जरा यह सोचिए कि क्या यह बात अनैतिक नहीं है कि गंदगी हम लोग करें और सफाई दूसरे लोग करें—इसी प्रकार गंदगी सब लोग करें और सफाई कुछ लोग करें।

सफाई करना किसी भी पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि से गंदी बात नहीं हो सकती। माँ बच्चों की और नर्सें मरीजों की परिचर्या में क्या कुछ नहीं करतीं! हम भी अपने शरीर की हर गंदगी को खुद साफ करते ही हैं। इसलिए यदि हम झूठी शान और भोंडी परंपरा को छोड़कर आवश्यकतानुसार आसपास की भी थोड़ी-बहुत सफाई करने की हिम्मत जुटा लें तो हमें उससे तत्काल मिल सकनेवाला सुख ढूँढ़ने के लिए किसी और के पास नहीं दौड़ना पड़ेगा। यदि आपको लगे कि आपके पास समय नहीं है तो इस सबके लिए गांधीजी को याद कर लीजिए, जिनके पास आपकी तुलना में निश्चित रूप से बहुत कम समय था।

पैर छुआने का मर्म

बच्चों से माता-पिता आदि के, बहुओं से सास-ससुर आदि के और शिष्यों एवं अन्य छोटों से गुरु आदि के पैर क्यों छुआए जाते हैं? वे इसलिए छुआए जाते हैं कि पैर छूनेवाले व्यक्ति के मन में नम्रता और श्रद्धा के गुण विकसित हों। वह बड़ों को बड़ा मानना सीखे।

बड़ों को बड़ा मानना अच्छे संस्कारों की बात है और स्वयं में एक चारित्रिक गुण है, भले ही हम स्वविवेक से उनकी कुछ या बहुत सी मान्यताओं और स्थापनाओं से सहमत न हों। दूसरों को इज्जत देने से अपनी बेइज्जती कभी नहीं होती; उलटे अहंकार का नाश होता है।

हमारे बड़े हमसे अपेक्षित इज्जत पाकर हमारे प्रति केवल सद्भाव बनाए रखते हैं, तब भी हम फायदे में ही रहते हैं। 'श्रद्धावाँल्लभते' के अनुसार हमें किसी पर श्रद्धा रखने से कुछ-न-कुछ लब्ध ही होता है।

यों तो नमित होने की चरम स्थिति के द्योतन के लिए 'सिर, हाथ, पैर, हृदय, आँखें, जाँघें, वचन, मन' आठों से एक साथ जमीन पर लेटकर किया जानेवाला साष्टांग प्रणाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रणति प्रकार है, पर सिर्फ खुशामद दिखाने

के लिए किसीके पैरों पर धड़ से गिर जाना उसे रिश्वत देने के समान है। यदि ऊपरी तौर पर आप किसीके पैर पूजें, पर मन के भीतर उसे उस वक्त गालियाँ देते रहें तो ऐसा नाटक आपको सही आदमी नहीं बनने देगा।

कई बार आधुनिकता का तकाजा पैर छूने-छुआने को पसंद नहीं करता। इसमें कोई परेशानी की बात नहीं है। यदि आपके मन में किसीके प्रति श्रद्धा है और आपका वह बड़ा भी आपसे पैर छुआने में विश्वास नहीं करता है तो जरा सा भी झुकने की जहमत मत लीजिए, बस मन के भीतर ईमानदार रहते हुए ऊपर से 'दुआ-सलाम' मात्र को अच्छे-से-अच्छे आदरभाव के लिए पर्याप्त समझिए।

कोई अन्य व्यक्ति किसके, कब, कहाँ पैर छू रहा है, इसका हिसाब रखना आपके लिए जरूरी नहीं है; आप तो बस पैर छूने-छुआने के मर्म को केवल 'अपने' और 'अपने बड़ों' के आपसी संदर्भ तक सीमित रखें। वही आपके लिए उपयोगी है। वही आपके जीवन की गाड़ी को अच्छेपन की दिशा में दूर-दूर तक ले जाएगा।

❋ व्यक्ति-चयन और आलोचना का संसार ❋

जिस प्रकार संसद् और विधानसभा में पक्ष की अच्छी-से-अच्छी बातों का विपक्ष को विरोध करना 'जरूरी' होता है (बुद्धि को तर्क हर बात के लिए मिल जाते हैं) उसी प्रकार किसी संस्था या टीम आदि के लिए जब सदस्य-चयन या पद-नामांकन किया जाता है तब उसमें कमियाँ निकालना 'जरूरी' होता है! यदि आप ऐसे निर्णय करने में दुनिया की सारी ईमानदारी लगा दें, तब भी आपपर पक्षपात के, गलत निर्णय के आरोप लगेंगे ही।

जब-जब भारत की क्रिकेट टीम के लिए खिलाड़ियों का चयन होता है तब-तब अखबार ऐसे लांछनों से भर जाते हैं कि अमुक-अमुक को छोड़ दिया गया है। आलोचना करनेवाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि टीम में स्थान पाने के हकदार हमेशा खुली संख्या में और काफी ज्यादा होते हैं; जबकि चयन किए जानेवालों की संख्या एकदम नपी-नपाई और सीमित होती है। तदनुसार कितनों को ही छोड़ा जाना लाजमी होता है। अब क्या करें? किन अनुभवी और पुराने खिलाड़ियों को चांस दें अथवा न दें? हर क्रिकेट-प्रेमी की पसंद के हर अच्छे खिलाड़ी को कैसे रखें? संतोष करने के लिए जवाब है कि टीम का चयन करने के बाद भगवान् भी आलोचना से नहीं बच सकते।

किसी नौकरी के इंटरव्यू के बाद जब चयन सूची घोषित होती है तब हफ्तों तक गलत चयन होने की चर्चा चलती रहती है। कुछ लोग निर्णय के विरुद्ध

कोर्ट तक चले जाते हैं। अधिकतर प्रत्याशी यह सोचते हैं कि उनके साथ अन्याय हुआ है, वरना चयन के लिए वे ही सबसे उपयुक्त छात्र थे। चयन समिति के यथासंभव सही निर्णय पर भी पक्षपात के दाग जरूर लगते हैं, क्योंकि चुने इने-गिने प्रत्याशी ही जाते हैं, जबकि रिजेक्ट कई गुने प्रत्याशी होते हैं—पूरी तरह योग्य होने के बावजूद। कुछ लोग कहते हैं कि यदि चयन समिति के सदस्य दूसरे होते तो निर्णय दूसरा होता। बिलकुल संभव है। लेकिन इस कथन में शिकायतवाली बात कुछ नहीं होनी चाहिए, क्योंकि भिन्न सदस्यों की रुचि और दृष्टिकोण प्रायः भिन्न होता है। कभी-कभी तो एक ही आदमी कभी कुछ और कभी कुछ निर्णय देता है। न्यायालयों तक के फैसले बदल जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि चयन के समय चयन समिति ठीक व्यक्ति का चयन करती है, पर बाद में वह व्यक्ति एकदम उलटा निकल या बन जाता है और चयन समिति कहती है कि हमने गलत चयन किया था। संसार ऐसा ही है। गलत होना तो गलत है ही; सही होना भी सही नहीं है!

किसी निबंध प्रतियोगिता में या पुस्तक लेखन में पुरस्कार के लिए संबंधित जज लोग अपने निर्णय के लिए अकसर विवादों के घेरे में डाल दिए जाते हैं। मुश्किल यह है कि कई प्रतियोगी और भागीदार स्वयंभू जज बनकर खुद को ही श्रेष्ठतम घोषित करने के लिए पैदा हुआ करते हैं। बेईमानों की बात यहाँ नहीं हो रही है—यदि जज लोग ईमानदार निर्णय के लिए अपनी जान लगा दें, तब भी वे आरोपों से नहीं बच सकते। यही दुनिया है।

यद्यपि मनुष्यों की 'एकमत' होने की कोशिशें चलती रहती हैं और इस कार्य में सफलता भी मिलती रहती है, पर स्वाभाविकता इसमें है कि मनुष्यों में मतभेद हों, क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः समान परिवेश में नहीं पले होते और वे किसी भी तथ्य को पूर्णतः एक ही कोण से नहीं देखते। इस वास्तविकता से यह सीख ली जा सकती है कि यदि किसी निर्णय के विरुद्ध आवाजें उठती हैं तो इस घटना को यह समझते हुए सामान्य मानना चाहिए कि ऐसा तो होना ही है। संसार की यही रीति है।

लाभ—इससे हममें अपने निर्णयों की आलोचना को झेलने की शक्ति आएगी।

दान जरूर दें, पर किसे?

दान करना बहुत अच्छी बात है, क्योंकि उससे त्याग करने की क्षमता बढ़ती है; और 'सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणाम वैराग्यं एवाभवम्' के अनुसार संसार में त्याग ही एकमात्र ऐसी वस्तु है, जो अभय प्रदान करती है, वरना प्रत्येक वस्तु भय उत्पन्न करनेवाली होती है। गांधीजी के राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले

ने भारतीय परंपरा के अनुसार सार्वजनिक जीवन में त्याग करने पर विशेष बल दिया था। उनका कहना था—'त्याग नेक जीवन का सिद्धांत है और लोग जो कुछ प्राप्त करते हैं, उससे महान् नहीं बनते; बल्कि वे जो कुछ त्यागते हैं, उससे महान् बनते हैं।'

उपर्युक्त के आधार पर त्याग और दान उपयोगिता और महत्ता की दृष्टि से जुड़वाँ भाई हैं। लेकिन त्याग विवेकपूर्ण होना चाहिए और दान सुपात्र को ही दिया जाना चाहिए। आगे की पंक्तियों में किसी भारी दान की बात न करके केवल भिक्षा या भीख जैसे रोजमर्रा के दान की बात की गई है।

भिक्षा या भीख माँगनेवाले हट्टे-कट्टे भिक्षार्थी कभी सुपात्र नहीं हो सकते, क्योंकि वे हाथ फैलाने के अलावा कुछ नहीं करते। यदि आप अंध धार्मिक या अति भावुक बनकर उनके भोजन-पानी आदि की व्यवस्था में सहयोग देते हैं तो आप उन्हें और भी नाकारा बनाते हैं। वे अपना पेट पालनेके लिए अंधविश्वासी भक्तों और विवेकहीन दानियों को बेवकूफ बनाने का धंधा करते हैं। कई बार तो वे भिखमंगे लोग ठग ही नहीं, चोर-उचक्के भी होते हैं।

वे आपसे कुछ माँगने तक तो आपके हितैषी बनकर कहते हैं कि वे आपके नाम का दिया जलाएँगे, आपके लिए दुआ माँगेंगे; पर यदि आपने उन्हें कुछ नहीं दिया, तब वे तत्काल आपका बुरा सोचते हुए आपके विरुद्ध बड़बड़ाते हुए निकल जाते हैं। उनका यह कहना कि उनकी दुआओं से आप संपन्न हो जाएँगे, निहायत मूर्खता की बात होती है; क्योंकि यदि उनकी दुआओं में थोड़ा भी दम होता तो वे अपने लिए भी दुआ माँगकर स्वयं संपन्न हुए बिना नहीं रह सकते थे।

कभी-कभी वे मँगते आपको डराकर—यदि आपने उन्हें दान नहीं दिया तो आपका अमुक नुकसान हो जाएगा—आपको झुकाना चाहते हैं; पर यह उनका सिर्फ चालूपन होता है। ऐसे दान-भुक्खड़ों से सावधान रहिए।

यदि आपको दान देना ही है तो होनहार गरीब बच्चों को छात्रवृत्ति दीजिए, अनाथों की जिंदगी बनाइए, अपाहिजों की मदद कीजिए, बेसहारा बीमारों का इलाज करवाइए, अभागी और संकटग्रस्त विधवाओं का विवाह करवाइए।

यदि आपका पेट अच्छी तरह से भर रहा है तो ओवर-ईटिंग की बिलकुल जरूरत नहीं है। अपनी समृद्धि में से थोड़ा अभाववालों के लिए भी कुछ करके देखिए—आपकी आत्मा खिल उठेगी। अपनी संपत्ति का सही उपयोग कीजिए। आप अपने साथ उसमें से कुछ भी लेकर जानेवाले नहीं हैं।

❋ व्यस्तता या प्राथमिकता? ❋

जब आपका कोई मित्र या संबंधी आदि आपसे बार-बार अपनी व्यस्तता की दुहाई देता हुआ यह कहने लगता है कि उसे बिलकुल समय नहीं मिल पा रहा

है, वह कामों से बहुत घिरा है तो समझ लीजिए कि अब वह आपसे दूर 'खुद में और अन्यों में' इतना अधिक लीन हो चुका है कि आपको थोड़ा भी समय देने में तकलीफ महसूस करने लगा है। उसकी बहानेबाजी को भाँपिए और जान लीजिए कि अपने को महीनों तक हर वक्त व्यस्त बताना खुद को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देना और सामनेवाले के अस्तित्व की बिलकुल परवाह न करना है।

संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, जिसे साँस लेने की फुरसत न मिलती हो (मुहावरे के मजाक को छोड़िए)। देश के प्रधानमंत्री तक के पास निकट के और दूर के लाखों लोगों के लिए समय होता है। वे अपनी इच्छा के (और अनिच्छा के भी) कामों में किसी भी सामान्य आदमी से कम व्यस्त नहीं होते; बल्कि शायद यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वे ही नहीं, अपने-अपने हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति व्यस्त होता है—कोई मजदूरी-नौकरी में, कोई घर-गृहस्थी में, कोई रेडियो-टी.वी. में, कोई खाने-सोने में।

'व्यस्तताएँ सिर्फ दूसरों को बताने के लिए' होती हैं, जबकि मूल में 'सिर्फ अपनी प्राथमिकताएँ' होती हैं। प्रत्येक सामान्य आदमी दिन भर में दर्जनों छोटे-बड़े काम करता है और दर्जनों स्थगित कर देता है—अपने भी, दूसरों के भी। उन सबमें वह अपनी प्राथमिकताएँ ढूँढ़ता है। व्यस्तताओं का आधार प्राथमिकताओं के अलावा कुछ नहीं है। यह बात आगामी तथ्य से भी पुष्ट हो जाती है कि कभी-कभी अन्य प्राथमिकता के कारण भारी-भरकम समारोह तक आखिरी मौके पर रद्द कर दिए जाते हैं।

यदि कोई व्यक्ति 'व्यस्त' रहता है तो वह किसी पर अहसान नहीं करता है; क्योंकि वह जो कुछ भी करता है, 'सिर्फ अपने लिए' करता है—स्वेच्छा से या मजबूरी में। 'मजबूरी में' भी 'सिर्फ अपने लिए' इसलिए कि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका अपेक्षाकृत अधिक नुकसान होने की स्थिति बन जाएगी। इसी तरह जब वह 'दूसरों के लिए' व्यस्त रहता है तब भी वह 'अपने लिए' ही जीता है—अपने कर्तव्य के लिए व्यस्त रहकर, अपने संतोष के लिए व्यस्त रहकर, अपने नाम और यश के लिए व्यस्त रहकर।

असल बात यह है कि कर्म को जीवन की अनिवार्यता माननेवाले व्यक्ति 'व्यस्तता' और 'रिक्तता' में से सदा 'व्यस्तता' को चुनते हैं। 'आराम हराम है' उक्ति के पीछे भी यही उद्देश्य है कि आदमी खाली न रहे, वह अपने और समाज के उत्तरोत्तर विकास के लिए निरंतर कार्यरत रहे। हाथ पर हाथ रखकर बैठनेवाले व्यक्ति को भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। 'कर्महीन' शब्द इसीलिए गाली बन गया है।

यदि निठल्लों की बात छोड़ दी जाए तो सामान्यतया हर आदमी अपने आगामी दिनों में अधिकाधिक व्यस्त होता जाता है, क्योंकि उसके संबंध और दायित्व बढ़ते जाते हैं। आज आपके जितने परिचित हैं, कल उससे अधिक संख्या में हो जाएँगे। नए-नए संबंधों के नित्य बढ़ते जाने के कारण आपके लिए

यह संभव नहीं रह जाता कि आप पिछले सारे संबंधों को उसी घनिष्ठता और तीव्रता के साथ बनाए रख सकें। माँ-बेटी तक के संबंधों के बारे में यह सच्चाई है कि बेटी की शादी के बाद जैसे-जैसे समय का अंतराल बढ़ता जाता है वैसे-वैसे संबंधों की गहराई कम होती जाती है। आदमी जब आगे बढ़ता है तब पीछे की चीजें छूटना जरूरी है। हम आगे के दिनों में अपने संबंधों के मामले में ही नहीं, यदि किसी भी मामले में आगे नहीं बढ़े तो जहाँ-के-तहाँ रुके रह जाएँगे। हर प्रवाह का यह वैशिष्ट्य रहता है कि पुरानी चीजें जाती रहती हैं और नई चीजें आती रहती हैं; नए-नए विचार मन में आते जाते हैं और बासी विचार दबते चले जाते हैं; 'पुराना' मरता जाता है, 'नया' पैदा होता जाता है। यदि केवल पुरानों से हमने सारी जगह घेरे रखी तो नयों के लिए जगह नहीं बचेगी।

एक घटनाक्रम इस प्रकार है। पहले साल गुरुजी के शिष्यों में से दस ने उन्हें पत्र लिखे। उन दसों को गुरुजी के उत्तर मिले। अगले साल ऐसे दस शिष्य और बढ़ गए। अब गुरुजी बीस उत्तरों के लिए बँध गए। यह सिलसिला आगे बढ़ने पर गुरुजी अपने सबके सब पुराने और नए शिष्यों को पत्रोत्तर देने में कमजोर पड़ने लगे। नयों से संपर्क बढ़ने की कीमत पर पिछले कितने ही शिष्यों से पत्राचार बनाए रखने की क्षमता गुरुजी में नहीं बची। कुछ समय बाद उन्हें अपने अनेक शिष्यों से संबंध कम करने ही पड़े। यदि वे ऐसा न करते तो पढ़ाना-लिखाना आदि छोड़कर दिन-रात चिट्ठियाँ ही लिखते रहते। श्रीकृष्ण भी जब द्वारिका गए तब व्रजवासियों से अपना संबंध बनाए नहीं रख सके।

इस सब चर्चा के संदर्भ में चिंतन के लिए आधार वाक्य यह बनता है कि अपनी चाहत के सामने दूसरों की व्यस्तताओं और दायित्वों के बारे में न सोच पाना हमारा अज्ञान भी है और हमारी स्वार्थपरता भी।

दांपत्य सुख

एक पत्नी महोदया बहुत सुखी हैं, पर उन्हें अपने पतिदेव से यह स्थायी शिकायत है कि वे उनकी कुछ बातें न मानकर उन्हें कभी-कभी काफी दुःखी कर देते हैं। जरा इस बात को पति की ओर से लागू करके इस प्रकार सोचिए कि क्या पति को पत्नी की सौ में से सौ बातों को मानना जरूरी है? उत्तर यह है कि यदि ऐसा है तो पति को पति न कहकर 'अलादीन के चिराग का जिन्न' कहा जाना चाहिए।

इसी तरह एक पति महोदय बहुत हद तक सुखी हैं, लेकिन उनका कहना है कि चूँकि वे अपनी श्रीमतीजी की कुछ बातें ऐसी भी स्वीकार कर लिया करते हैं जिन्हें वे बेहद नापसंद करते हैं, इसलिए श्रीमतीजी उन्हें कभी-कभी अत्यंत पीड़ा देनेवाली लगने लगती हैं। अब जरा पत्नी के हक में यह बात सोचिए कि क्या

पति महोदय को इतना बड़ा तानाशाह होना चाहिए कि उन्हें अपनी इच्छा के प्रतिकूल पत्नी की कुछ इच्छाएँ पूरी करने में पीड़ा होनी चाहिए? क्या पत्नी को उनकी विविध-पक्षीय सेवा करने का इनाम सिर्फ दो रोटियाँ हैं? यदि ऐसा है तो पत्नी को पत्नी न कहकर बिना बोलनेवाली बँधुआ मजदूर कहा जाना चाहिए।

सुखी दांपत्य जीवन का यह मतलब नहीं है कि केवल पति या केवल पत्नी की इच्छाएँ पूरी हों और सौ प्रतिशत पूरी हों। सौ प्रतिशत इच्छाएँ तो भगवान् भी किसीकी पूरी नहीं कर पाए। यदि पति-पत्नी की कुछ इच्छाएँ एक-दूसरे की विपरीत इच्छाओं और परिस्थितियों की वजह से पूरी नहीं हो पाती हैं तो दोनों को इतनी भारी शिकायत क्यों होनी चाहिए कि उसके कारण वे अन्यथा मिल रहे और उससे मिल सकनेवाले पर्याप्त सुख में आग लगाकर विकट रुप से दुःखी हो जाते हैं। वे इस दृष्टि से क्यों नहीं सोचते कि उनका जीवन-साथी उन्हें दुःख कभी-कभी ही देता है (वह हर बात में चौबीसों घंटे, तीन सौ पैंसठ दिन दुःख दे ही नहीं सकता—कोई भी किसीको नहीं दे सकता), जबकि सुख उससे क ई गुना अधिक देता है—बहुत से क्षेत्रों में; और जब भी वह कुछ देता है तब उसकी खुद की कोई इच्छा पूरी हो रही होती है अर्थात् उससे 'उसे' सुख मिल रहा होता है। अब इनसानियत की बात यह है कि जो व्यक्ति बहुत प्रकार से आपके निरंतर काम आता हुआ आपको अनेकानेक सुख देता है, उसके किसी (आपसे मतभेदवाले) निजी सुख की खातिर आपको कुछ दुःख झेलने में तकलीफ नहीं होनी चाहिए। उलटे, ऐसे दुःख सहन करने के लिए आपको हमेशा तैयार रहना चाहिए। यदि आप दोनों ने इतनी सहनशीलता अर्जित कर ली तो समझ लीजिए कि आपका दांपत्य जीवन परम सुखी हो गया। तब तो आपमें परस्पर होड़ लग जाएगी कि कौन दूसरे को ज्यादा सुख देता है और कौन दूसरे की खातिर खुद अधिकाधिक सहन करने को तैयार रहता है।

दरअसल आदमी यह तो खूब याद रखता है कि उसने दूसरे के लिए क्या-क्या किया, पर यह भूल जाता है कि दूसरे ने उसके लिए क्या-क्या किया। वह यह भी दोहराना नहीं भूलता कि दूसरे ने उसके लिए क्या-क्या नहीं किया। पिता बच्चों के लिए कितना करता है, यह बच्चे नहीं सोच पाते। इसके विपरीत, जो कुछ पिता उनके लिए नहीं कर पाता, उसके लिए वे शिकायत करते रहते हैं। इसे जरा इस तरह भी सोचिए कि कितने पिता बच्चों के लिए कितना अधिक करते हैं और कितने बच्चे पिता के लिए कितना करते हैं! (यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं है कि जो पिता-बच्चे इस मामले में आदर्श होते हैं, उनपर परिवार और समाज को नाज होता है।)

बहुत ऊँचे स्तर पर तो यह भी सुनने को मिलता है कि यह कभी मत पूछो कि तुम्हारे देश ने तुम्हारे लिए क्या किया, हमेशा खुद से पूछो कि तुमने देश के लिए क्या किया। वस्तुतः जो देशभक्त देश के लिए कुछ करते हैं, उन्हें देश सिर-आँखों पर बैठाता है। वह उन्हें अमर कर देता है।

अब फिर अपने घर वापस आइए—कि इसी प्रकार यदि आप सामान्य व्यक्ति हैं तो सापेक्षतावाद के अनुसार जितना अधिक आप अपने जीवन-साथी के लिए करते हैं उतना ही अधिक आपको प्रतिदान में मिलता है, देर-सबेर, चाहे किसी भी रूप में—प्रेम के रूप में, सेवा के रूप में, समर्पण के रूप में, धन-संपत्ति के रूप में, सहयोग के रूप में, संतोष के रूप में, कुल मिलाकर सुख के रूप में। (यदि आप घृणा करते हैं तो घृणा के रूप में भी।)

एक छोटी सी आदत से खुशहाली

दो दोस्त हैं। एक ही पद पर। एक सा वेतन। दोनों के बच्चों की संख्या बराबर। खर्च प्रायः एक जैसे। दोनों की ससुराल से भी संपत्ति की कोई आमद नहीं। फिर भी एक दोस्त बहुत संपन्न है, जबकि दूसरे को हमेशा आर्थिक तंगी रहती है। आप सोचेंगे कि पहला दोस्त ऊपरी कमाई के गलत रास्ते अपनाता होगा। बिलकुल गलत। वह भी दूसरे की तरह भरपूर ईमानदार है। अब अनुमान लगाइए कि दोनों की आर्थिक स्थिति में इतना अंतर कैसे हो गया। शायद आप कहेंगे कि पहला दोस्त सुख-सुविधा और अच्छे स्टैंडर्ड से नहीं रहता होगा। नहीं। उसके पास भी फ्रिज, रंगीन टी.वी., कार, अपना मकान आदि सबकुछ है। घर में फूलों का बगीचा है। वह छिटपुट दान-पुण्य, तीर्थ, पिकनिकें आदि भी करता है। उसका कुछ-न-कुछ बैंक बैलेंस भी रहता है। वह वक्त-जरूरत जरूरतमंद दोस्तों और मातहतों को अच्छी-खासी रकम बिना ब्याज के उधार भी देता रहता है, जिसके बारे में उसका एक दोस्त तो कहा करता है कि उसने अपने इस स्वभाव के कारण ही पिछले पच्चीस-तीस साल में बैंक से मिल सकनेवाला इतना ब्याज गँवा दिया है कि उससे वह एक किराना भंडार खोल लेता।

उसकी इस खुशहाली का श्रेय उसकी एक छोटी सी आदत को जाता है। ऐसी आदत, जिसका ज्यादातर लोग मजाक उड़ाते हैं। वह आदत है फिजूलखर्ची से बचने की आदत। इस आदत को आप कंजूसी इसलिए नहीं कह सकते कि ऊपर लिखे तथ्यों के अनुसार उसके पास उसके दोस्त की उपलब्धियों से कुछ कम नहीं है। अब कुछ नमूने देखिए कि उसकी यह फिजूलखर्ची से बचकर बचत करने की आदत किस प्रकार की है।

वह सुबह-शाम, साल भर एक तरफ इस्तेमाल किए जा चुके कागजों को अपने समस्त लेखन के काम में लाता है, जिन्हें सामान्यतया यों ही फेंक दिया जाता है। जरा हिसाब लगाइए कि नए कागज के रीम न खरीदने से पच्चीस-तीस साल में उसकी कितनी बचत हुई; और उसपर मिलनेवाला ब्याज! (इस बात पर पहले

हँसिए, पर बाद में आपको गंभीर होना पड़ेगा।) हर छह साल में रुपए दुगुने हो जाते हैं। तीस साल पहले के सौ रुपए बैंक में पड़े-पड़े आज तीन हजार दो सौ हो चुके हैं। यह हिसाब सिर्फ एक साल के सौ रुपयों की बचत का है—उनतीस साल पहले के सिर्फ एक साल का। बाद के उनतीस सालों में भी यह बचत निरंतर होती आ रही है। हर साल हजारों कागजों की; हर साल के रुपयों और उनपर आगामी वर्षों के ब्याज की। कुल योग लगाइए। पौन लाख! चलिए, आधा लाख ही सही। सिर्फ एक मद में; वह भी बहुत छोटी सी।

वह दोस्त किसी भी पहले से इस्तेमाल किए गए ठीक हालतवाले लिफाफे को दोबारा इस्तेमाल किए बिना नहीं मानता। स्थिति के अनुसार कभी वैसा ही, कभी उसे पलटकर। इस प्रकार उसने अब तक अपने को कई हजार छोटे-बड़े लिफाफे खरीदने से बचाया। हिसाब लगाइए।

उस दोस्त के यहाँ आप फालतू जलती हुई बिजली, व्यर्थ ही चलता हुआ रेडियो या टी.वी. और बिना चढ़े बरतन के जलती हुई कुकिंग गैस एक क्षण के लिए भी नहीं देख सकते। यह कोई छोटी बात नहीं है। अगर आप इन तीनों सावधानियों से सिर्फ तीन रुपए रोज बचा लेते हैं तो एक साल में कितने हुए? लगभग एक हजार। और तीस साल में?...ब्याज अलग।

वह दोस्त अपनी कार का इस्तेमाल तभी करता है जब उससे सही रिटर्न मिलता है। वरना उसकी साइकिल सलामत। जरूरत के अनुसार रिक्शा और ऑटो भी। उसके हिसाब से कार रखने का मतलब यह बिलकुल नहीं है कि पैदल चलना भूल जाओ और कुछ लीटर पेट्रोल की आहुति सड़कों पर बेनागा चढ़ाओ-ही-चढ़ाओ; उसमें बैठकर पोस्ट ऑफिस तक पोस्टकार्ड डालने जाओ, उसमें बैठकर दिन में छह बार पनवाड़ी की दुकान पर जाओ।

अब पान-तंबाकू का खर्च। उस दोस्त का पान का खर्च शून्य के बराबर है। शादी-ब्याह आदि में पान खाने और दस-पाँच रुपयों के रोज खाने में बड़ा अंतर है। तंबाकू और सिगरेट आदि की लत को उसने अपने ऊपर कभी हावी नहीं होने दिया। शराब का भी उसके बजट में कोई स्थान नहीं है। ये खर्च ऐसे हैं, जो शुरू में दो-चार बार में कुछ नहीं दिखाई देते, पर बढ़ते-बढ़ते ये अच्छे-अच्छों को भिखमंगा बनाने की ताकत रखते हैं। और बढ़िए। उस दोस्त के पास टीम-टामवाले आठ जोड़ी जूते और आठ जोड़ी कपड़े नहीं हैं। वह अपना काम न्यूनतम साज-सामग्री से चलाने में विश्वास रखता है। वरना शौक का तो कहीं अंत नहीं है।

वह पॉलिश और शेविंग के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर सबकुछ खुद करता है, जिससे उसके ये काम हजारों बार कम समय में एक-चौथाई से भी कम पैसों में हो जाते हैं।

उस दोस्त के यहाँ भोजन के नाम पर भी फिजूलखर्ची न होने से बचत होती है। पहली बात यह है कि उसके यहाँ कभी एक भी रोटी फेंकने की नौबत नहीं

आती। थाली में खाना बिलकुल नहीं बचता। यथारुचि और यथासाध्य उतना ही खाना पकाया जाता है जितना खाया जाना होता है। दूसरी बात यह है कि उसके घर में ठूस-ठूसकर कोई नहीं खाता, जिसके कारण सामान्यतया कोई बीमार नहीं पड़ता, फलतः डॉक्टरों और दवाओं का भी सारा संभावनीय व्यय शुद्ध बचत के खाते में जाता है।

अब जरा सब मदों की बचत जोड़कर देखिए। पड़ गए न मुश्किल में!

स्वयं को सुधारिए, बस

हर साधारण आदमी का मन करता है कि वह दूसरों को सुधारे। हर असाधारण आदमी का मन करता है कि वह स्वयं को सुधारे।

जो लोग सुधरना चाहते हैं, वे पहले से सुधरे हुए लोगों को देख-सुन-पढ़-समझकर स्वयं सुधरने लगते हैं।

जो लोग नहीं सुधरना चाहते उन्हें कोई नहीं सुधार सकता। (एक बार लोकसभा अध्यक्ष ने कहा था कि हमारे कुछ सांसदों को शिष्टाचार कोई नहीं सिखा सकता!)

आप दूसरों को सुधारने का ठेका बिलकुल न लें। यदि आप स्वयं सुधरे हुए हैं तो सुधरना चाहनेवाले अन्य व्यक्ति आपसे निश्चित रूप से प्रेरणा लेंगे।

दूसरी ओर, इस चरम सत्य को भी न भूलें कि धरती पर न सुधरनेवाले लोगों का अस्तित्व भी अनिवार्य है। कारण ये हैं—(१) कुछ लोगों का बुद्धिहीन होना उनकी नियति है, (२) कुछ लोगों का बुद्धिमान होते हुए भी सदा अड़ियल रहना उनकी नियति है, (३) कुछ लोगों को सुधरने के नाम पर अनिच्छुक और लगनहीन होना उनकी नियति है।

लेकिन यदि किसीमें स्वयं को सुधारने की इच्छा और लगन है तो उसे अच्छा बनने से कोई नहीं रोक सकता।

यों आपको सुधारने के लिए लोग आपके चारों तरफ मँडराते हुए मिलेंगे; पर आप इस मामले में उनकी परवाह बिलकुल मत कीजिए। सिर्फ अपनी परवाह कीजिए। आप अपनी करनी और अपने कर्मों के खुद ही मालिक हैं—फल के भी। बनानेवाले भी और बिगाड़नेवाले भी।

संसार में बुराइयाँ सिर्फ इसलिए हैं कि हम खुद अच्छे न होते हुए भी दिन-रात दूसरों को सुधारने के लिए दुबले होते रहते हैं। यदि हम सिर्फ अपने को अच्छा बना लें—यदि हर आदमी सिर्फ अपने को अच्छा बना ले तो सारा संसार अच्छा हो जाए। बच्चे अच्छे अभिभावकों जैसे बन जाएँ। शिष्य अच्छे गुरुओं जैसे बन जाएँ। भक्त अच्छे आराध्यों जैसे बन जाएँ।

❋ कुढ़न का इलाज ❋

एक साहब की पत्नी अपनी नौकरानी पर बरस रही थीं कि उसने ऐसा नहीं किया, वैसा नहीं किया। नौकरानी द्वारा की जानेवाली बातें बहुत साधारण थीं (जैसे कुछ धुले हुए बरतनों को ठीक जगह पर न रखना), जिनके कारण पत्नी को अपना खून जलाना व्यर्थ की बात थी। पत्नी की ऊँची-ऊँची आवाजें सुनकर पति ने उनसे गंभीरतापूर्वक केवल इतना कहा कि नौकरानी में यदि तुम्हारे बराबर बुद्धि होती तो उसकी हैसियत भी तुम्हारे बराबर हो सकती थी। बस, पत्नी सामान्य हो गईं (और उन्होंने वे बरतन शांतभाव से स्वयं ठीक जगह पर रख दिए)।

सच बात है। कभी-कभी हम बहुत सड़ी सी बात पर अपना मानसिक संतुलन बिगाड़ लेते हैं। कई बार हमारी झुँझलाहट घटना के तत्काल बाद समाप्त न होकर हमारा मूड लंबे समय के लिए खराब कर देती है। हम उसके कारण काफी लंबे समय तक कुढ़ते रहते हैं। ऐसे में स्वस्थ मानसिकतावाले व्यवहार-निपुण लोग अपने मन के भीतर ही यह कहकर सारे तनाव से मुक्ति पा जाते हैं कि 'दूसरा आदमी' उनकी बुद्धि के अनुसार चल पाने में अक्षम है या वह भी अपनी मरजी का मालिक है। इस प्रकार यदि हमने क्रोध और कुढ़न पर विजय प्राप्त कर ली तो समझिए कि हमने आधी दुनिया जीत ली। लेकिन इसके लिए हमें 'स्वयं को बड़ा' मानना पड़ेगा। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) की फिलॉसफी को हलके-फुलके ढंग से रोजमर्रा की बातों पर भी लागू करना पड़ेगा। दूसरों को आवश्यकतानुसार नादान मानकर चुपचाप माफ करना पड़ेगा। अनेक बार घर के बच्चे हमारा नुकसान करते रहते हैं और हम उन्हें झेल-झेलकर उनके द्वारा बिगाड़ी गई बातों को बनाते-सुधारते चलते हैं।

श्रीराम शर्मा आचार्य ने प्रचारित किया है—'विश्वास करो कि तुम सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो।' अब यदि आपको एक नौकरानी या बच्चा या दोस्त या सहकर्मी छोटी सी गलत बात पर विचलित कर देता है तो आप अपने को महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कैसे बना पाएँगे? आप बड़े तभी बन सकेंगे जब आप दूसरों की नादानियों से खुद नादान नहीं बन जाएँगे और अपनी मानसिक हानि नहीं होने देंगे।

हमारे चारों ओर हर क्षण कुछ-न-कुछ ऐसा होता रहता है, जो हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं होता। हम सब सहते हैं। हममें सबकुछ सहने की शक्ति है। आदमी में यदि यह शक्ति न हो तो उसे कुढ़ने और चिड़चिड़ाने के लिए दिन में चौबीस घंटे कम पड़ा करें। हर आदमी को अपने चारों ओर के अधूरेपन के बीच ही जीने की आदत डालनी पड़ती है। पूर्णता की चाह 'चाह' भर होती है,

उसकी 'प्राप्ति' कभी नहीं होती। इसलिए दुनिया के हर व्यक्ति के साथ अपने संबंधों के मामले में, उसकी अपेक्षाओं के मामले में काफी बड़ा मारजिन रखना जरूरी है। केवल हम ही स्वाधीन रहना पसंद नहीं करते, सभी लोग स्वाधीनता चाहते हैं—ज्यादा बुद्धिवाले भी और कम बुद्धिवाले भी। यदि दूसरों के लिए, खासकर अपने से छोटों के लिए, हमने अपने मन में अपेक्षित उदारता रख ली है तो जितना सुख दूसरों को हमसे मिलेगा, उससे कम हमें नहीं मिलेगा; क्योंकि यह उदारता आदमी के मन में कुढ़न और चिड़चिड़ाहट के बीजों को उगने की छूट नहीं देती।

सीखने की कोई उम्र नहीं होती

यदि आदमी अपनी उम्र के किसी मुकाम पर सोचता है कि अब वह बहुत सीख चुका है, तो समझ लीजिए कि उसकी प्रगति पर विराम लग गया। सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति के सामने हर तरफ कुछ-न-कुछ नया सीखने के लिए मौजूद रहता है; लेकिन यदि वह इस बात को नकारता है तो उसे या तो अज्ञान की या अहंकार की बीमारी हो चुकी होती है।

एक उदाहरण लें। कुछ साहित्यकार व्याकरण और शब्दकोश जैसी कोई भी किताब कभी नहीं छूते। उन्होंने जो भाषा संबंधी ज्ञान अपने स्कूली जीवन में स्कूली स्तर पर पाया था, जीवन भर उसीमें सिमटे रहते हैं। वे यह जानते हुए भी नहीं जानते कि हर प्रकार के अध्ययन के आयाम निरंतर बढ़ते और पुनरीक्षित होते रहते हैं, इसलिए उनकी भाषा विषयक जड़ मान्यताओं में कभी सुधार और तरक्की नहीं हो पाती। वे 'जरूरत से ज्यादा बड़े' बन चुके होते हैं! उन्हें कुछ सीखने के प्रति एलर्जी हो जाती है। वे सिर्फ दूसरों को सिखानेवाले सर्वज्ञ और उपदेशक बनकर रह जाते हैं।

यदि आदमी में बढ़ने की चाह होती है तो वह अपने ज्ञान को सदा अधूरा मानते हुए उसमें वृद्धि करता चलता है। सीखने की कभी सीमा नहीं हो सकती। उसके स्रोत असंख्य होते हैं। गांधीजी ने कहा था कि दुनिया में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता, जिससे हम कुछ सीख न सकें।

कुछ लोगों को गलतफहमी होती है कि सीखने की उम्र सिर्फ बच्चों की होती है। उन्हें बच्चे ही समझा-सिखा देंगे कि, उदाहरण के लिए, यदि गणित और नीति बच्चों के लिए होती है तो वह बड़े-से-बड़े गणितज्ञों और योगी-तपस्वियों के लिए भी होती है।

नई बातों को सीखने की शुरुआत करने की भी कोई उम्र नहीं होती। बहुत जाने-पहचाने और बार-बार दिए जानेवाले उदाहरण हैं कि वाल्मीकि शुरू में डाकू थे, कालिदास शुरू में मूर्ख थे और तुलसीदास शुरू में भोगी थे। इन

कालजयी साहित्यकारों ने साहित्य की सीख-साधना अपेक्षाकृत काफी बाद में शुरू की, फिर भी ये अनंत काल के लिए स्थापित हो गए।

अपमान और सम्मान

एक महाशय अपनी कार चलाते समय उसमें किसी दूसरे अकेले व्यक्ति को कभी पीछे की सीट पर न बैठने देकर सदा आगे की सीट पर अपने साथ ही बैठने का आग्रह केवल इसलिए करते हैं कि यदि वह व्यक्ति पीछे बैठ गया तो लोग उन महाशय को ड्राइवर समझ बैठेंगे। वे इस कुंठा के शिकार हैं कि यदि उन्होंने कार में अन्य के रहते हुए आगे की सीट पर अकेले बैठकर ड्राइविंग की तो उनका अपमान हो जाएगा।

एक साहब अपने समवयस्क सहकर्मी से सदैव अपेक्षा करते हैं कि पहले 'वही' उनसे नमस्ते किया करे। यदि संयोगवश कभी वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उनसे साहब को लगता है कि उसने उनका अपमान कर दिया।

एक आदेश-मास्टर हैं, जो अपने चारों ओर के हर प्राणी को अपनी एक-एक इच्छा के अनुसार चलाना चाहते हैं। यदि उनके इर्दगिर्द का कोई व्यक्ति उनकी किसी इच्छा को पूरी नहीं कर पाता है तो वे उसे अपनी बेइज्जती मानते हुए भड़क उठते हैं।

इन उदाहरणों को बताने का मकसद यह है कि लोगों को अपमान के बारे में काफी गलतफहमी रहती है। अपमान वस्तुतः बहुत हद तक हीनता की भावग्रंथिवाले व्यक्तियों को अधिक सताता है। जिन आदमियों के जीवन में उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप सच्चा सम्मान नहीं मिल पाता है, अर्थात् जो वास्तविक सम्मान पाने की दृष्टि से भूखे रह जाते हैं, उन्हें हर छोटी-छोटी बात में अपना अपमान होता हुआ दीखता है। चूँकि नेताओं को अन्यथा काफी सम्मान मिलता रहता है, इसलिए वे अपमान की बिलकुल परवाह नहीं करते।

एक बार अपनी संस्था के सबसे बड़े पदाधिकारी एक बहुत बड़े नेता की अगवानी करने की नीयत से बिना बुलाए हवाई अड्डे पर जा पहुँचे। जब उन्हें वहाँ नेताजी से मिलने का मौका नहीं दिया गया तो वे बौखला गए और जगह-जगह अपने उस तथाकथित अपमान का रोना रोने लगे। अखबारों में भी निकलवा मारा कि 'वे खदेड़ दिए गए।' तथ्यात्मकता के नाम पर यह 'अपमान' नहीं था, यह सम्मान की भूख में अपमान को जबरदस्ती गले लगा लेना था।

अपमान 'करने' के पीछे भी प्रायः विशेष भावग्रंथि काम करती है। दूसरों का अपमान ऐसा व्यक्ति ज्यादा किया करता है, जिसका खुद का अपमान होता रहता है। उसका मन इसका बदला लेता है। एक पति महोदय घर में डाँट खाकर कार्यालय पहुँचते ही दूसरों को डाँटने लगते हैं।

यदि आपका कोई अपमान करता है तो आपके भी मन में उसके लिए अपमान की भावना घर करने लगती है। इसलिए यदि आपको अन्यों से सम्मान पाना है तो उनका सम्मान ही कीजिए, अपमान नहीं। सम्मान बड़ों मात्र को नहीं, छोटों को भी दिया जाना जरूरी होता है। उसे हम स्नेह के साथ दे सकते हैं। दूसरी ओर, किसी बड़े को सम्मान देने के लिए झुकना या पैर छूना जरूरी नहीं है। यद्यपि सांस्कृतिक परंपराओं और शिष्टाचार का कम महत्त्व नहीं होता; पर यह मानकर मत चलिए कि आपके पैर छूनेवाला व्यक्ति उस समय आपको अपने मन में गाली नहीं दे सकता। किसीके प्रति सम्मान या अपमान अपने सच्चे रूप में बाहर की तुलना में मन के भीतर अधिक रहता है।

❋ त्याग और समाज-हित ❋

कुछ लोग त्याग और दान की बात तो खूब करते हैं, पर अपने सुख-साधनों में कटौती बाल भर भी करने को तैयार नहीं होते। वे अपने और अपनों के ऊपर हमेशा इतना अधिक—आवश्यकता से अधिक—खर्च करते हैं कि उनके पास दान करने के लिए कुछ बचने की नौबत ही नहीं रह जाती। दूसरी ओर, जिन लोगों की आमदनी बहुत ज्यादा होती है और जिनके सामने उनके सारे जरूरी-गैर जरूरी खर्च करने के बाद भी बचत की स्थिति अनिवार्य रूप से बनी रहती है, वे कई बार त्याग और दान का अभिमान जताते हुए कहते हैं कि वे मरते समय अपना सबकुछ दान कर जाएँगे। अरे, यदि उन्हें सिर्फ मरते समय अपनी संपत्ति दूसरों को देनी है, तब उसमें उनका त्याग और स्वार्थहीनता कहाँ रही! उन्होंने जीवन भर तो ऐश किए, समाज के लिए कुछ नहीं किया; लेकिन अंत में जब वे अपने ऊपर एक कौड़ी भी खर्च कर सकने की हालत में नहीं रह गए—मरते समय, तब उन्हें दान-पुण्य की सूझी। वह भी शायद अपना परलोक सुधारने के लालच में। मुहम्मद साहब ने कहा था—'जिंदगी में एक सिक्का खैरात करना मौत के समय सौ सिक्के खैरात करने से कहीं बेहतर है।'

कुछ लोग तर्क करते हैं कि दान के पूर्व हमें अपने सही खर्च पूरे कर लेने चाहिए। ठीक है; जब हम खुद ही नहीं जिएँगे तो दूसरों के लिए कुछ कैसे कर पाएँगे। लेकिन प्रश्न है कि 'सही' खर्च क्या होते हैं? क्या ऐसे खर्चों की कोई सूची और सीमा है?

पहले रोटी। खाना कौन सा 'सही' होता है? उसके लिए प्रति व्यक्ति कितने रुपए जरूरी हैं? न्यूनतम और अधिकतम क्या है?

फिर कपड़ा। यों हमारा काम गिने-चुने कपड़ों से चल सकता है, पर नहीं। क्या 'सही' खर्च के नाम पर हमें कम-से-कम एक दर्जन सूट और डेढ़ दर्जन साड़ियाँ जरूर चाहिए?

अब मकान। हमारे पास सारी सुविधाओं से युक्त एक मकान होना चाहिए। लेकिन कितना बड़ा? और 'सारी सुविधाओं' का अंतिम बिंदु कहाँ है?

दरअसल, 'त्याग वृत्ति' का अर्थ बहुत व्यापक है। यदि हम कोई चीज खरीदने की नीयत रखते हैं और उसे खरीद सकने की स्थिति में भी नहीं होते हैं—साथ ही कंजूस भी नहीं होते, लेकिन फिर भी उसे नहीं खरीदते—तभी 'त्याग वृत्ति' होती है। ऐसे सुप्त त्याग से अप्रत्यक्ष दान स्वतः हो जाता है। वह कैसे? वह ऐसे कि खूब खरीदा-खरूदी करके चीजों के दाम बढ़वाने में हमारा बहुत हाथ रहता है। जब खरीदारियाँ बढ़ती हैं तब उत्पादन भी बढ़ाना पड़ता है। जब हम चीजों को खरीद-खरीदकर बाजार में उनका अभाव कर डालते हैं तब उनके दाम बढ़े बिना नहीं रहते। इसके विपरीत, यदि हम सारे खर्चों में कटौती कर दें—अर्थात् त्याग का व्रत ले लें—तब चीजें बाजार में बची रहने के कारण उनके मूल्य नहीं बढ़ेंगे और इस दिशा में समाज का हित खुद-ब-खुद हो जाएगा।

कुछ लोग घर की टूटी-फूटी और बिलकुल बेकार की चीजों को फेंकने के बजाय किसीको जबरदस्ती देकर अपने दान और त्याग की महिमा प्रचारित करते हैं। ऐसे दान का महत्त्व 'नहीं' के बराबर होता है, क्योंकि इसमें त्याग न होकर अपने यहाँ की गंदगी साफ करने के साथ-साथ उसीसे दूसरों पर अहसान करने की वृत्ति रहती है। यदि, उदाहरणार्थ, अपने घर का बचा हुआ खाना ज्यादा बासी हो जाने के कारण आपने इस डर से खुद नहीं खाया कि आपकी तबीयत खराब हो जाएगी और उसे किसी बाह्य व्यक्ति को दान या भिक्षास्वरूप खिला दिया तो अपना मूल्यांकन कीजिए कि क्या आपने 'समाज-हित' किया?

अकर्मण्यता से बचिए

मुरगों ने अपने पंखों का इस्तेमाल करना बंद कर दिया, वे उड़ान भरने के लायक नहीं रह गए। यदि हम अपने दिमाग का इस्तेमाल करना बंद कर दें तो उसका भी यही हाल होगा।

दिमाग को चलाते रहिए—एक अच्छी मशीन की तरह। मशीन चलने पर ही उत्पादन करती है। दिमाग को खाली मत रखिए, वरना उसमें शैतान रहने लगेगा। खाली पड़े मकानों में अंधविश्वासियों के लिए भूत और दूसरों के लिए भाँय-भाँय और गंदगी इकट्ठी होती रहती है। खाली शरीर निर्जीव होता है।

आदमी का मन हो या शरीर, उसका व्यस्त रहना अति आवश्यक है। व्यस्तता शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए हितकर है। शरीरांगों का या किसी गाड़ी का या किसी दुकान का गतिशील रहना ही उसमें जीवन का द्योतक है। यदि शरीरांग नहीं चलते हैं तो गठिया नामक रोग हो जाता है। यदि

गाड़ी नहीं चलती है तो उसका नाम ही 'गाड़ी' नहीं रह जाता, क्योंकि 'चलती का नाम गाड़ी' होता है। यदि दुकान नहीं चलती है तो वह ठप्प हो जाती है।

लोग कसरत क्यों करते हैं? क्योंकि उससे शरीर पुष्ट होता है। दिमागी कसरत से दिमाग पुष्ट होता है। रिहर्सल से ड्रामा सफल होता है और रियाज से गाने का स्तर ऊँचा होता है। जिन व्यक्तियों का पढ़ने-लिखने का अभ्यास शून्य होता है, वे कोई उपाधि प्राप्त नहीं कर सकते।

आदमी जितना अधिक सोचने का अभ्यास करेगा, जितना अधिक विचारों में डूबेगा वह उतनी ही गहराई में पहुँचेगा। मस्तिष्क को उर्वर बनाने के लिए, उसका उत्थान करने के लिए उसकी घिसाई जरूरी है। चाकू की धार घिसाई के बाद ही तेज होती है। प्रतियोगिताओं को जीतकर उन्नति के शिखर पर पहुँचनेवाले लोग दिमाग की घिसाई करके ही वहाँ पहुँचते हैं; वे खाली बैठनेवाले नहीं हुआ करते। निठल्ले लोगों को किसी भी समाज में इज्जत नहीं मिला करती। 'ठलुआ' इसीलिए एक गाली है।

बेकार पड़े हुए लोहे में जंग लग जाता है; बेकार पड़ी हुई लकड़ी में दीमक लग जाती है; खाली यानी खोखली और हलकी चीजों को पानी अपने तल के ऊपर की ओर फेंक देता है; भरी हुई चीजें ही भारी होने के कारण तह में पहुँचकर बैठती हैं।

रिटायरमेंट के बाद कुछ लोग सिर्फ इसलिए जल्दी मर जाते हैं कि उनका समय काटे नहीं कटता। उनके सामने समस्या आर्थिक कम, दिन-रात खाली रहने की अधिक होती है। जो लोग सदा काम में लगे रहते हैं, उनकी उम्र अधिक होती है। उनके पास मरने की भी फुरसत नहीं होती!

आदमी संसार में 'दिमाग' लेकर आया है। वह 'हाथ-पैर' लेकर आया है, खाली बैठने के लिए नहीं आया है। यदि वह अपने को गतिमान उपक्रमों के साथ संपृक्त रख पाता है, तभी उसका संसार में आना सार्थक है, वरना सिर्फ समय काटने का काम क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी भी कर लेते हैं। यदि आदमी को खुद को सही ढंग से व्यस्त रखना नहीं आता है तो समझिए कि वह व्यक्तिगत तौर पर खुराफाती है और सामाजिक तौर पर नाकारा है। ऐसा आदमी विकास के किसी भी पहलू में योगदान न करने के कारण राष्ट्र पर एक बोझ रहता है।

उपर्युक्त तथ्यों से निष्कर्ष रूप में यह सीख मिलती है कि हम अपने को खालीपन का शिकार न होने दें और खाली दिमागवालों से बचकर रहें।

❋ क्या पढ़ें, क्या नहीं ❋

यों तो पढ़ने के लिए लाइब्रेरियाँ भरी पड़ी हैं, पर चूँकि हमारी जिंदगी सबकुछ पढ़ डालने के नाम पर बहुत छोटी है, इसलिए 'क्या पढ़ना है, क्या नहीं', इसका

चयन करना बहुत जरूरी है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यह जानने की तुलना में कि हमें क्या-क्या पढ़ना चाहिए, यह जानना बहुत जरूरी है कि हमें क्या-क्या नहीं पढ़ना चाहिए।

एक छात्र बुद्धि से बहुत अच्छा था और पढ़ता भी बहुत था; लेकिन परीक्षाओं में अपेक्षा से काफी कम अंक पाता था। कारण सिर्फ यह था कि वह अपने पाठ्यक्रम के हिसाब से अगर बीस पूर्णांकों के लिए एक किताब पढ़ता था तो पाँच पूर्णांकों के लिए चार-पाँच किताबें पढ़ता था। अपनी रुचियों की दृष्टि से उसमें पर्याप्त ज्ञान था, पर उपाधियों की दृष्टि से उसका ज्ञान उसके काम नहीं आया। उसे अच्छी नौकरी नहीं मिल पाई।

एक साहब के सामने समय काटने की समस्या है। वे दिन-रात जासूसी उपन्यास पढ़ते रहते हैं। उनके लिए अन्य संपूर्ण साहित्य बेकार है। दूसरे साहब जासूसी क्या, ऊँचे-से-ऊँचे साहित्यिक उपन्यास को भी हाथ नहीं लगाते। उनका कहना है कि जितने समय में एक उपन्यास पढ़ा जाता है उतने समय में वे अपने काम के तीन-चार दर्जन लेख पढ़ लेते हैं।

दरअसल, आपको अपनी आवश्यकता और लक्ष्य को देखते हुए ही यह निर्धारित करना होता है कि आपके लिए क्या पढ़ना उपयोगी है और आपके पास उसके लिए कितना समय है। जो लोग पढ़ने-लिखने के प्रति गंभीर होते हैं, वे सिर्फ अखबार के समाचारों तक ही सीमित नहीं रहते।

आप अपने विवेक से, निश्चित रूप से, यह निर्णय कर सकते हैं कि आपके क्या-क्या पढ़ने से आपका समय बरबाद होता है। एक स्थापित साहित्यकार हैं, जो किसी पत्रिका के मिलते ही उसकी विषय-सूची को पढ़ते हुए उन-उन शीर्षकों को टिक कर देते हैं, जिनसे उन्हें आगे मतलब होता है; पत्रिका के शेष सारे शीर्षकों के पृष्ठ उनके लिए बेकार होते हैं।

यहाँ तक तो समझ में आता है कि दैनिक समाचारपत्रों में कुछ लोग स्पोर्ट्सवाला पृष्ठ छोड़ देते हैं, कुछ शेयर बाजारवाला छोड़ देते हैं, कुछ फिल्मों के विज्ञापनवाला छोड़ देते हैं और कुछ कविता और कहानी छोड़ देते हैं; पर जो लोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थल पर छापा जानेवाला आधी लाइन का नीति वाक्य छोड़ देते हैं, उनसे भगवान् बचाए।

पते की एक बात और कि जैसे आवारा और बदचलन दोस्तों की सोहबत में रहनेवाले बच्चे अकसर बिगड़ जाया करते हैं वैसे ही घटिया लेखन को पढ़नेवालों के विचार भी घटिया होने लगते हैं। आप क्या पढ़ते हैं और क्या छोड़ देते हैं, इसके लेखे-जोखे से आपकी जन्म-कुंडली बनाई जा सकती है—सामान्य भी और मंगली भी!

❋ प्रत्येक व्यक्ति से सीखना ❋

कोई भी दो व्यक्ति बिलकुल एक जैसे नहीं हो सकते, जिसका मतलब है कि हर दूसरे व्यक्ति में कोई-न-कोई बात अन्यों से भिन्न होती है—उसका वातावरण और स्वभाव भिन्न होता है, उसके संपर्क और अनुभव अलग होते हैं। बस यहीं इस तथ्य का आधार छिपा हुआ है कि हम प्रत्येक व्यक्ति से उसके अनुभवों के ऐसे अंश ग्रहण कर सकते हैं, जिन्हें हमने अभी तक प्राप्त नहीं किया है। सीखने की सीढ़ियों का कभी अंत नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्णता तक पहुँचना आसमान की ऊँचाई तक पहुँचने के समान है।

एक उदाहरण लें। किसी युवक से कोई वयोवृद्ध भी वे सारी बातें सीख सकता है, जो युवक के भिन्न व्यवसाय या सेवा से संबंधित हों, जो युवक के भिन्न अध्ययन से संबंधित हों, जो युवक के जमाने से संबंधित हों और जो युवक की अपनी दुनिया से संबंधित हों।

यों तो हर आदमी में कुछ अच्छाइयाँ होती हैं, क्योंकि कोई भी आदमी सौ प्रतिशत बुरा नहीं हो सकता; लेकिन हम अधिक बुराइयोंवाले से भी बहुत कुछ ले सकते हैं। हमें कितनी ही शिक्षाएँ बुरे लोगों के द्वारा किए गए कामों के दंडस्वरूप उन्हें मिली सजाओं से मिलती हैं। यह बात कि बुरा काम नहीं करना है, बुरों को बुरी हालत में देखकर आसानी से समझी जा सकती है।

अच्छा आदमी हर तरफ अच्छाई ढूँढ़ता है। वह बुरों की बुराइयों को अनदेखा करके उनकी भी सिर्फ अच्छाइयाँ देखता है। इसके विपरीत, जिसे दूसरों की सिर्फ बुराइयाँ दीखती हैं, वह अपने को बुराईप्रिय और बुराईपुंज प्रमाणित करता है। उसके भीतर की बुराइयों का परदा उसकी आँखों पर बनकर इस प्रकार छा जाता है कि वह दूसरों की अच्छाइयों को भीतर नहीं घुसने देता।

आदमी में बुराइयों का होना बिलकुल अस्वाभाविक नहीं है; लेकिन उन्हें दूर करने के लिए कोई प्रयास न करना बहुत बुरा है। यदि कहीं की सफाई न करो तो गंदगी की परत के ऊपर परत चढ़ती चली जाती है और कालांतर में वहाँ सड़न पैदा होने लगती है। विविध धर्मग्रंथों में, जगह-जगह होनेवाले प्रवचनों में, चिंतन संबंधी प्रसारणों में, संत-महात्माओं की जीवनियों में, सुविचारों और अनमोल वचनों से संबंधित लेखों तथा सूक्तियों में यही संदेश निहित रहता है कि आदमी को स्वयं और समाज के लिए अधिकाधिक अच्छा बनने की आवश्यकता है।

अच्छा बनने की राह में जिस व्यक्ति से कुछ सीखा जाता है, उसका बड़ा-छोटा होना महत्त्वपूर्ण नहीं है; महत्त्वपूर्ण है उससे सीखी जानेवाली बात। यदि किसी बहुत बड़ी हस्ती में कोई ऐब है तो वह त्याज्य है और यदि किसी बहुत छोटे आदमी में कोई सद्गुण है तो वह ग्राह्य है। मानव का लक्ष्य मानवता की

प्राप्ति है, व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व की प्राप्ति नहीं। उसका आदर्श सार्वभौम अच्छाई है, सीमित अच्छाई नहीं। उसे ब्रह्म का अंश कहा जाता है। उसके अंदर भगवान् का निवास माना जाता है। इससे सिद्ध है कि उसमें प्रच्छन्न रूप से इतनी अधिक शक्ति मौजूद रहती है कि वह अपने भीतर के सत् तत्त्व का सहारा लेकर अपनी सारी राक्षसी वृत्तियों का दमन कर सकता है और कितना भी अच्छा और कितना भी बड़ा बन सकता है। अपना निर्माता वह स्वयं है, जिसके लिए वह प्रेरणा और संबल कहीं से भी, किसीसे भी ले सकता है। यदि वह हर व्यक्ति से कुछ लेने और सीखने का रास्ता खुला रखे तो उसकी उपलब्धियों की कोई सीमा नहीं रहेगी।

❋ मीठे व्यवहार की सीमा ❋

'मीठे बनिए, लेकिन बेहद मीठे हरगिज नहीं, वरना लोग आपको चाट जाएँगे। बहुत कड़वे भी मत बनिए, वरना लोग आपपर थू-थू करने लगेंगे।' यह सार-विस्तार है एक चीनी कहावत का।

आप मीठे-ही-मीठे पर जीवित नहीं रह सकते। ज्यादा मीठे में कीड़े पड़ जाते हैं। दिन-रात सिर्फ मीठा खानेवाला व्यक्ति मधुमेह रोग को आमंत्रित करता है।

जरूरत से ज्यादा मीठी बातों का मतलब खुशामद होता है। जरूरत से ज्यादा मीठा व्यवहार छिपी हुई धूर्तता का भी लक्षण होता है।

कड़ापन अन्यों को सामान्यतया कड़वा लगता है। सच कड़वा होता है। आप कड़ा होना अवश्य सीखें; लेकिन कड़ा-ही-कड़ा होना नहीं, वरना लचकने की जरूरत पड़ने पर टूट जाएँगे। बैठने, लेटने, उठने, चलने—सबके लिए लचक की जरूरत पड़ती है।

आप सदा एक ढर्रे पर चलनेवाली मशीन नहीं हैं। आपमें विवेक भी है और भावना भी। संतुलन रखते हुए आपको कभी मीठा बनना पड़ेगा, कभी कड़वा —दोनों बिना अति के। आप केवल सुस्वादु नहीं देखेंगे। आपको आवश्यकता पड़ने पर नीम की पत्तियाँ भी चबानी होंगी। नहीं चबाएँगे तो कड़वी गोलियाँ खानी पड़ेंगी। अच्छी माताएँ अपने बच्चों को इसी प्रकार बड़ा करती हैं। लाड़-प्यार भी और अनुशासन भी। जज लोग न्याय करने में मीठे भी रहते हैं और कड़वे की सीमा तक कड़वे भी। वे गुण-दोष तौलकर आदमी को बाइज्जत बरी भी करते हैं और बड़े-से-बड़ा दंड भी देते हैं।

❋ आशीर्वाद की वास्तविकता ❋

एक बाजार से छिटपुट खरीदारी करके वापस आते हुए एक बुजुर्ग महोदय का

शक्कर से भरा पॉलिथीन पैकेट गली में गिरकर किनारे से फट गया और उसमें से शक्कर निकलकर फैलने लगी। सड़क का फर्श पक्का और साफ था, इसलिए बुजुर्ग महोदय शक्कर को ऊपर-ऊपर से बटोरना चाहते थे। वे ऐसा करने ही वाले थे कि सामने से आती हुई दो अनजान लड़कियों में से एक ने तेजी से पास आकर इस काम में उनका हाथ बँटाना शुरू कर दिया। काम पूरा हो जाने पर बुजुर्ग ने 'धन्यवाद बेटी' कहते हुए उस विवाह योग्य लड़की से आशीर्वादात्मक भाव से स्नेहपूर्वक यह भी कह दिया कि 'सुखी रहो, तुम्हें खूब अच्छा पति मिले।'

संयोग से कुछ अंतराल के बाद ऐसा हो भी गया। जब वह युवती उन बुजुर्ग से लगभग एक वर्ष बाद अचानक फिर मिली तब उनसे नमस्ते करते हुए बोली, 'दादाजी, आपने मुझे आशीर्वाद दिया था। मैं बहुत सुखी हूँ। आपका आशीर्वाद मुझे खूब फला है।' जाहिर है कि लड़की के संस्कार बहुत अच्छे थे।

उसके जाने के बाद बुजुर्ग महोदय स्वयं से प्रश्न करने लगे कि क्या सचमुच उनके आशीर्वाद में इतनी ताकत है कि वे केवल दो-चार वाक्य कहकर किसीको सुखी बना सकें? उन्होंने विचार किया कि लोग अकसर आशीर्वाद दिया करते हैं और उनमें से बहुत से फलते भी हैं; पर ऐसा क्यों होता है?

उनके दिमाग में एक बात यह आई कि उनके मुँह से सबके लिए नहीं, केवल अच्छों के लिए ही खुले दिल का आशीर्वाद निकलता है। शक्करवाली घटना के दिन साथवाली दूसरी लड़की के लिए तो नहीं निकला था; यद्यपि वह भी पास ही खड़ी थी, पर शायद हेकड़ थी। इस प्रकार का भेदात्मक व्यवहार प्रायः सब लोगों के जीवन में निसर्गतः घटित होता है। यदि आप स्वयं पर यह बात लागू करके देखें तो पाएँगे कि आप किसी चोर और चरित्रहीन को सच्चा आशीर्वाद कभी नहीं देंगे कि जाओ, फलो-फूलो।

निष्कर्ष यह निकलता है कि आशीर्वाद पानेवाले श्रद्धावान् व्यक्ति को सुख वस्तुतः आशीर्वाद के कारण नहीं मिला करता है, वह उसकी स्वयं की अर्जित कमाई होता है। संकेतित उदाहरण में सुख पानेवाली लड़की पहले से ही खूब गुणी थी। जब वह एक अनजान व्यक्ति की मदद के लिए अचानक दौड़ सकती थी तब अपने सुख-दुःख के स्थायी साथी पति तथा अपने सगे बुजुर्ग सास-ससुर आदि के मन को मोह लेने में सिद्धहस्त क्यों नहीं होगी!

एक अन्य उदाहरण लें। एक छात्र एम.ए. (प्रीवियस) की परीक्षा में सर्वाधिक अंक प्राप्त कर चुका था। वह फाइनल की परीक्षा के कुछ पहले अपने एक श्रद्धेय टीचर के पास आशीर्वाद लेने पहुँचा। जब टीचर ने उसके लिए 'सामान्य ढंग से खूब अच्छा' कह दिया तो वह बोला, 'नहीं सर! मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे आशीर्वाद दीजिए।' ठीक है, भाई। छात्र के मन में विश्वास था कि यदि गुरुजी वैसा करेंगे तो वह फाइनल में भी जरूर टॉप करेगा। वैसा आशीर्वाद देने

में गुरुजी शुरू में कुछ सकुचा रहे थे कि कहीं उनका आशीर्वाद फेल न हो जाए; पर छात्र ने परीक्षाफल के समय उनकी पूरी इज्जत रख ली।

इस उदाहरण में भी छात्र ने टॉप तो वस्तुतः स्वयं की निष्ठा और परिश्रम के बल पर किया था, पर श्रेय गुरुजी के आशीर्वाद को मिल गया। सच्चाई यह है कि वह छात्र टॉप अन्यथा भी करता। साफ बात है कि गुरुजी किसी थर्ड क्लास छात्र को ऐसा आशीर्वाद नहीं दे सकते थे। उन्होंने 'अच्छे' को 'अच्छा' कहा, बस।

दरअसल जिन शिष्यों का भविष्य उज्ज्वल होना पहले से निश्चित रहता है, गुरुजी लोग उनके बारे में इस सत्य का उद्घाटन मात्र कर देते हैं आशीर्वाद देकर। वे कोई नई या जादूवाली बात नहीं करते। चूँकि ऐसे शिष्यों के संस्कार पहले से ही अच्छे होते हैं, इसलिए वे अपने को अहंकार से दूर रखकर बड़ों के आशीर्वाद को अपना संबल मानते हुए और भी जी-जान से अध्ययन करते हैं तथा अच्छा फल पाने के बाद भी स्वयं को उसका श्रेय न देकर उसे नम्रतापूर्वक आशीर्वाद का ही प्रताप स्वीकार करते हैं। ऐसे छोत्रों के लिए उनके बड़ों के आशीर्वाद हरदम बरसने को आतुर रहते हैं। उनका महत्त्व वही समझता है, जो उन्हें पाने के योग्य होता है। वे सद्भावनाओं के इंजेक्शन होते हैं। वे अहंकार की नस काटनेवाले होते हैं।

जबान की कीमत

आपने एक दुकानदार को नेम-प्लेट बनाने के लिए दी। उसने कुछ एडवांस लेकर आपसे कहा कि आप उसकी दुकान पर अगले बुधवार को पहुँच जाएँ। आप बुधवार की शाम को वहाँ पहुँचे। आपको जवाब मिला—'परसों आ जाइए साहब, बस थोड़ा सा काम बच गया है।'

आपने दर्जी को कुरता-पाजामा सिलने को दिया। उसने आपको एक सप्ताह बाद बुलाया। आप उसके पास आठवें दिन पहुँचे। दर्जी ने आपसे कहा कि अभी तीन दिन और लग जाएँगे। आप वहाँ चौथे दिन गए। कुरता-पाजामा तब भी तैयार नहीं था।

आपने प्रेस में कुछ छपने के लिए दिया। काम लेते समय प्रेसवाले ने बेहद शराफत दिखाई और वचन भरे; पर बाद में उसने अपनी जबान तीन बार पलटी कि कल जरूर दे दूँगा।

आपने बढ़ई से अपने घर पर काम करवाने के लिए बात पक्की की। वह आपको भरपूर विश्वास दिलाकर भी अपने बताए हुए दिन पर नहीं आया।

यह क्या होता जा रहा है आदमी की जबान को और उसके द्वारा दिए गए भरोसे को! काम आपका, पैसा आपका, समय आपका, आने-जाने की कसरत आपकी, सहनशीलता की परीक्षा भी आपकी।

अपने शब्दों की लाज न रखनेवाले उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों का चरित्र निम्न स्तर का होता है, क्योंकि वे अपने प्रिय ग्राहकों के साथ विश्वासघात करते हैं।

आदमी को अनमोल बोलों का धनी बनने के लिए अपनी कथनी-करनी में भेद न करने का वशीकरण यंत्र बनना पड़ता है।

अपना तात्कालिक काम निकालने के लिए बहकानेवाली जबान का इस्तेमाल करनेवाले आगे-पीछे निश्चित रूप से लोगों की नजरों से गिर जाते हैं। दूसरी ओर, अपनी जबान का इनसानी उपयोग करनेवालों का कद समाज में कितना ऊँचा उठता चला जाता है, इसे उनके मुँह से दिन-रात निकलनेवाली सूक्तियाँ बताती हैं। अच्छा आदमी अपनी जबान को चमड़े का कामचलाऊ टुकड़ा नहीं, मानवता का कवच मानता है।

❋ आगामी कल की भी सोचिए ❋

कुछ लोग वर्तमान से एक पल भी आगे की नहीं सोचते। वे कुआँ तभी खोदना शुरू करते हैं जब उन्हें प्यास लगती है। उन्हें भविष्य की बिलकुल चिंता न करनेवाला अदूरदर्शी कहा जाएगा। उनके घर के सारे पानी के बरतन प्रायः खाली पड़े रहते हैं। जब नल चला जाता है और उन्हें पानी की जरूरत पड़ती है तब वे उसके लिए अड़ोस-पड़ोस के लोगों को तंग करने में शर्म महसूस नहीं करते। वे कहते हैं कि आखिर पड़ोसी कब काम आएँगे!

आदमी बहुत छोटी-छोटी बातों पर ध्यान रखकर अपना जीवन एक अच्छे पारिवारिक और सामाजिक के रूप में भी जी सकता है, या फिर दूसरों की सदा आलोचना का पात्र बनकर भी समय काट सकता है। वह जो भी पसंद करे! एक मामूली सा उदाहरण है कि कुछ लोग शौच से निवृत्त होने के बाद मल को फ्लश आदि से बिना बहाए शौचालय से बाहर निकल जाते हैं। उनके बाद वहाँ पहुँचनेवाला व्यक्ति उन्हें मन में कम-से-कम एक बार तो 'असभ्य' कह ही देता होगा। पर उन्हें इसकी चिंता नहीं रहती। दरअसल उन्हें खुद को छोड़कर संसार में किसीकी भी चिंता नहीं रहती। वे इस बात पर कभी विचार नहीं किया करते कि कुछ क्षण बाद की स्थिति दूसरों के लिए कैसी रहेगी।

कार और स्कूटर आदि को कहीं पार्क करनेवाले श्रीमानजी कभी-कभी न तो अपनी 'आँखों का' इस्तेमाल करते हैं और न अपनी 'अक्ल का' कि दूसरी गाड़ियाँ पार्क करनेवालों और आने-जानेवालों को कितनी असुविधा हो जाती है। बुद्धि को अपनी पीठ की तरफ खिसका देनेवाले ऐसे सज्जन खुद अपने बारे में भी नहीं सोच पाते कि कुछ समय बाद उन्हें भी अपनी गाड़ी निकालने में

परेशानी हो जाएगी। उस समय उन्हें यह बड़बड़ाते हुए आपने जरूर सुना होगा कि दूसरे लोगों ने उनकी गाड़ी को कहाँ फँसा डाला है।

आगे की सहूलियत को ध्यान में रखकर एक साहब बाजार से वापस आने पर अपने घर के गैरेज में अपनी कार को बैक करके ही रखते हैं कि जब भी बाद में कहीं जाना होगा, वे उस समय सीधे ही निकल जाएँगे।

एक साहब के यहाँ दिन में एक दर्जन बार चाय बनती होगी, लेकिन चाय बनानेवाला बरतन हर वक्त साफ-सुथरा लटका हुआ मिलता है। कारण यह है कि उस घर की श्रीमतीजी हर बार चाय बन जाने के बाद उसे उसी समय साफ कर डालती हैं। वे उसकी आगामी तात्कालिक आवश्यकता पड़ने की बात के साथ-साथ यह भी समझती हैं कि उस समय बरतन को जूठे बरतनों में डाल देने से उसपर हुए जमाव आदि के सूख जाने से बाद में उसे माँजने में अधिक समय और श्रम लगेगा।

कुछ लोग अपना गुच्छा या अन्य कुछ सामान अकसर इधर-उधर ढूँढ़ते हुए नजर आते हैं। इसका कारण केवल यह है कि वे अपनी चीजों को सही जगह पर यह सोचकर रखने की समझदारी नहीं दिखा पाते कि उनको उन चीजों की भविष्य में जरूरत पड़ेगी। घर हो या कार्यालय, चीजों को कूड़े के ढेर के समान रखनेवाला व्यक्ति 'वर्तमान से एक पल भी आगे न सोचने की बीमारी' का शिकार होता है। ऐसे लोग आकस्मिक रूप से बिजली चली जाने के बाद या तो उस समय सिर्फ हल्ला मचाना जानते हैं कि मोमबत्ती कहाँ है, दियासलाई कहाँ है; या उन चीजों को ढूँढ़ने के चक्कर में घर का कुछ सामान तोड़ बैठते हैं।

निष्कर्ष यह है कि इस तरह की परेशानियों के लिए हम खुद जिम्मेदार हैं। बस जरा सा आगे के बारे में सोचकर हम दूसरों की ही नहीं, अपनी भी सुविधाएँ बढ़ा सकते हैं, समय बचा सकते हैं और बार-बार होनेवाली खीज से छुटकारा पा सकते हैं। इसके लिए बड़ी दूरदर्शिता की आवश्यकता नहीं है, केवल थोड़ी सी सावधानी और धैर्य से काम चल जाता है।

यों तो जीना-मरना विधि के हाथों में है, पर यदि आपमें 'जीवन जीने की लालसा' है तो कम-से-कम कल के बारे में जरूर सोचना होगा। यह सोचकर कि संसार किसी भी समय खत्म हो सकता है, 'सौ प्रतिशत वर्तमान' को ही सबकुछ माननेवाले व्यक्ति में जीने की लालसा की तुलना में मरने का भय अधिक होता है। यहाँ एक मजेदार किस्सा सुनिए—एक लड़का खाना खाते समय स्वयं को सबसे अच्छी लगनेवाली चीज को सबसे पहले खत्म करता था और सबसे रद्दी लगनेवाली चीज को सबसे बाद में खाता था। सामान्यतया इसका उलटा होता है कि मुँह का जायका अच्छा बनाए रखने के नाम पर लोग अच्छे स्वादवाली चीज को सबसे बाद में खाते हैं। जब उस लड़के से उसके उलटे क्रम का कारण पूछा गया तो उसने गंभीरतापूर्वक बताया कि वह डरता है कि कहीं वह खाते-खाते ही न मर जाए, इसलिए कहीं अच्छी चीज को खाने से वंचित न रह जाए।

आदमी-आदमी में भेद मत कीजिए

आदमी-आदमी में भेद करनेवाले व्यक्तियों को ओलंपिक से शिक्षा लेनी चाहिए, जिसमें क्षेत्रवाद और जातिवाद तो क्या, संप्रदायवाद और धर्मवाद का भी कोई अता-पता नहीं होता। वहाँ सिर्फ मानववाद होता है। वहाँ कोई नहीं सोचता कि कौन अछूत है और कौन 'छूत'। रंग-रूप का भी वहाँ अद्भुत संगम दिखाई पड़ता है और समतावाद का भी वहाँ सच्चा रूप देखने को मिलता है। केवल वहाँ अनुभव होता है कि संसार भर के आदमी सिर्फ आदमी हैं।

स्वस्थ और ईमानदार तरीकों से स्पर्धाओं में जीतने के लिए अपनी जान लगा देना और जबरदस्त अनुशासन का पालन करने के लिए सर्वांशतः बाध्य होना आज की दुनिया में शायद केवल ओलंपिक में संभव है। चाहे कोई कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसके लिए वहाँ 'पक्षपात' शब्द का अकाल रहता है। वहाँ स्पर्धाओं के मैदान में कोई किसीका 'रिश्तेदार' नहीं होता। वहाँ सिर्फ एक रिश्ता होता है—आदमी का आदमी से।

यदि राजनीतिक स्तर पर किन्हीं दो देशों के बीच शत्रुता होती है, तब भी वहाँ के खिलाड़ियों में ओलंपिक में केवल सद्भाव और भाईचारा रहता है। वहाँ किसी भी देश के राष्ट्रीय ध्वज के अपमान की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वर्ण पदक प्राप्त करने के बाद जिस समय संबंधित खिलाड़ी के राष्ट्र की राष्ट्रीय धुन बजती है उस समय का माहौल पारस्परिक सहिष्णुता की दृष्टि से अनुपम होता है। पूरा स्टेडियम उसके सम्मान में अखंड शांति रखता है।

पदकों की प्राप्ति के बाद जिस समय भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विरोधी खिलाड़ी एक-दूसरे के प्रति स्नेह और संवेदनशीलता दिखाते हैं उस समय संसार में बुराई के अस्तित्व के प्रति अविश्वास होने लगता है। यह बुराई पर अच्छाई का हावी होना है।

पूरे आयोजन के दौरान प्रतिभागियों और दर्शकों को देखकर ऐसा लगता है कि जिंदगी उफनी पड़ रही है। समग्रता से रंजित खुशियों का ऐसा खजाना और कहीं देखने को नहीं मिलता। वहाँ अनेक बार खुशी के आँसुओं की बौछार होती देखकर फिर वही बात याद आती है कि आदमी कहीं का भी हो, किसी भी जाति और धर्म का हो, मूलतः और अंततः वह आदमी ही है, हमें भेद कर-करके उसे टुकड़ों में नहीं बाँटना चाहिए।

❋ प्रार्थना का महत्त्व ❋

प्रार्थना का स्वरूप चाहे कोई हो, उसका मतलब सिर्फ अपने को बहुत छोटा और अपने आराध्य को बहुत बड़ा मानने से रहता है। प्रार्थना के माध्यम से आदमी अपनी साकार या निराकार अर्चनीय सत्ता से सफलता को प्राप्त करने और असफलता को झेलने की ताकत इकट्ठी करता है। वह प्रार्थना करते समय महसूस करता है कि सर्वशक्तिमान का साया उसकी रक्षा कर रहा है।

प्रार्थना एक ओर दुःखों की त्राण-स्थली है और दूसरी तरफ सुखों की चिरंतन आशा है। गरीब लोग अपनी गरीबी के लिए सहारा प्रार्थना में ढूँढ़ते हैं और रईस लोग अपनी रईसी बचाने और उसे बढ़ाने का रास्ता प्रार्थना में ढूँढ़ते हैं। वे रईसीजन्य व्याधियों से मुक्ति के लिए भी प्रार्थना का सहारा लेते हैं। प्रार्थना हर आस्थावान् को संजीवनी देती है।

प्रार्थना से अहंकार का क्षय होता है और स्वभाव में नम्रता पनपती है। उससे मन स्थिर होता है और मनोबल बढ़ता है, जिससे आत्मविश्वास में वृद्धि होती है। प्रार्थना उस विश्वास की अति को नियंत्रण में रखती है और आदमी को उसकी सीमाओं का आभास कराती है। कुछ बड़े-बड़े डॉक्टर भी ऑपरेशन करने के पूर्व परमपिता का स्मरण कर लेते हैं। उस समय उनके द्वारा की गई नमन-प्रार्थना का उद्देश्य और लाभ यह होता है कि वे स्वयं को कर्ता-धर्ता समझने की भूल नहीं करते, भले ही भौतिक रूप से वही सबकुछ करते हैं।

कई खिलाड़ी खेल के मैदान में प्रवेश करते समय भूमि का स्पर्श करके हाथ को अपने माथे से लगाते हैं। उनका हृदय अप्रत्यक्ष रूप से विजय की याचना करता है। उन्हें विजय वस्तुतः वह भूमि अपने हाथों से नहीं सौंपती, वे स्वयं ही उसे अपने सत्प्रयत्न से पाते हैं; लेकिन उस क्षण भर की प्रार्थना जैसी चीज से वे इच्छाशक्ति, निष्ठा, आत्मबल एवं गलती के प्रति भय और सावधानी आदि बहुत कुछ संचित कर लेते हैं।

प्रार्थना के लिए उसके पूज्य प्रतीक, उसके स्थान, उसके विधि-विधान और उसकी शब्दावली आदि के हजारों प्रकार हो सकते हैं; उनके बारे में कितना भी रुचि-भेद हो सकता है (कुछ लोगों के लिए 'बुद्धि-विवेक' ही अंतिम बिंदु होता है), पर प्रार्थना से मिलनेवाले संतोष और सत्परिणाम के लिए एक बात में मति-भेद नहीं हो सकता कि प्रार्थना में भाव सात्त्विक और भावना शुद्ध रहनी चाहिए। ऐसा होने से आदमी अधिकाधिक अच्छा हुए बिना नहीं रह सकता। वह सुख और शांति से जीना सीख जाता है (कि जैसी 'उस' की इच्छा)।

सम दृष्टि और सामाजिक सुख

आप अपने को स्वस्थ तभी कहते हैं जब आपके सारे अंग ठीक हालत में काम कर रहे होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आपकी किसी अँगुली की पोर में चोट लगी होती है, तब आपका सारा शरीर उसे याद रखता है। इसी तरह यदि आपके सिर में दर्द हो रहा होता है, तब आप यह नहीं कहा करते कि आपके शेष शरीर में दर्द नहीं है।

जिस प्रकार अच्छे स्वास्थ्य के नाम पर शरीर के प्रत्येक अंग का महत्त्व है उसी प्रकार परिवार के सुख के लिए उसके बड़े-छोटे सब सदस्यों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना जरूरी है। यदि आपने इस मामले में पक्षपात किया तो परिवार में देर-सबेर निश्चित रूप से मनोमालिन्य, विवाद और कलह की स्थिति पैदा हो जाएगी; वरना स्नेह और आदर सबके लिए है, अनुशासन सबके लिए है, त्याग सबके लिए है, अधिकार सबके लिए हैं।

पेड़ की जड़ें जब समूचे पेड़ को एक सी खुराक पहुँचाती हैं, तभी उसकी एक-एक पत्ती लहलहाती है। उसके पुष्पित और फलित होने में उसके समग्र अंगों का योगदान रहता है।

समाज में विद्रूपताएँ इसलिए जन्म लेती हैं कि आदमी समाज को इकाई न मानकर स्वयं को इकाई मानते हुए दूसरों का शोषण करता है। दूसरी ओर, जिस-जिस इनसान ने दूसरों को अपने जैसा माना है, वही महान् बन गया है। अन्यों का हिस्सा हड़पनेवाले धनपशु राजनेताओं और अति साधारण जन के रोटी-कपड़े-मकान के साथ जिंदगी जीनेवाली गांधीजी जैसी महान् आत्माओं में यही अंतर है।

'अपने समान सब' और 'सब लोगों का हित' वाली सूक्तियाँ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'सर्वजनहिताय' मानवता के प्रथम सोपान हैं। सबको एक नजर से देखने का गुण इतना अधिक बड़ा है कि यदि हम इस दिशा में एक कदम भी बढ़ जाएँ तो इनसानियत के नाम पर आज के कुछ लाख लोगों के ऊपर पहुँच जाएँ।

कर्मरत जीवन जीना

आज का काम कल पर छोड़ने के नुकसान के बारे में काफी कुछ कहा गया है। 'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब' के अनुसार अपने काम को बिलकुल पेंडिंग मत छोड़िए, क्योंकि पल भर में प्रलय हो सकती है। बहुत सीधी सी बात

है कि यदि हम अपना कोई काम अभी पूरा कर लेते हैं तो हमें आगे के कामों को करने के लिए अधिक समय मिल जाता है।

जो लोग अपने कामों को लटकाने के बजाय जल्दी-से-जल्दी निबटाने में विश्वास करते हैं, वे जीवन की दौड़ में निश्चित रूप से जल्दी-जल्दी इनाम पाते जाते हैं। वे जानते हैं कि हर दिन और हर क्षण की कीमत होती है। वे 'भावना' से नहीं, 'बुद्धि' से काम लेते हुए इस चरम सत्य को बिना घबराए सम्मान देते हैं कि जीवन का कोई भरोसा नहीं है, इसलिए हर क्षण का सदुपयोग करो। यद्यपि हम दुआ करते हैं कि आदमी सौ साल जिए; लेकिन मरनेवालों में से कितने ही ऐसे होते हैं, जो सौ साल की आधी या चौथाई अवधि ही पार कर पाते हैं। इस कड़वे सच को आत्मसात् करते हुए हमें अंग्रेजी की उस कहावत पर अमल करना चाहिए कि 'आशा उत्कृष्ट की करो, लेकिन तैयार निकृष्ट के लिए रहो।'

चूँकि हम सबकी उम्र की एक सीमा है, इसलिए जब तक हम जिंदा हैं, अपने समय का पूरा-पूरा सदुपयोग कर लें। हमारी करनी ही हमें मरने के बाद भी जिंदा रखेगी। यदि हमने आज का काम कल पर टाला तो हमारी करनी का आज के दिन का खाता बिलकुल खाली रह जाएगा।

काम अपना हो या दूसरों का, उसे समय से निबटाने का संतोष स्वयं में एक उपलब्धि है; क्योंकि तब आपको उसे पूरा करने की चिंता से मुक्ति मिल जाती है और अन्यों के बीच आपकी छवि अच्छी बनती है। इसके विपरीत, यदि आप दूसरों को जबान दे-देकर उनका काम पेंडिंग रखने की लत से पीड़ित हैं, तब यह कभी मत सोचिए कि लोग आपको 'सज्जन' मानते हैं।

कहते हैं कि आने के लिए मौत को बहाना चाहिए। कितनी ही बार दुर्घटनाओं में और कितनी ही बार अन्यथा स्वर्ग की स्थायी यात्रा करने के लिए निकल जानेवाले हमारे परिचित-अपरिचित लोग हमें प्रायः झकझोर देते हैं। ऐसे अनुभवों के आधार पर हमारे द्वारा यह सोचा जाना बुद्धिमानी की बात है कि हमारे जीवन की डोर भी डोर ही है, कोई फौलादी जंजीर नहीं। यदि आदमी में यह समझ नहीं होती तो वह जीवन बीमा जैसी बातों को अपनी जबान पर कभी न लाता।

एक वरिष्ठ समाजशास्त्री ने कहा है कि 'हम संयोग से जी रहे हैं'। बात बहुत अच्छी है, लेकिन तभी, जब हम उससे यह प्रेरणा लें कि जब तक हम जी रहे हैं तब तक जीवन के प्रति सकारात्मक रुख रखते हुए निरंतर कर्मरत रहेंगे और शीघ्रता के साथ अपने लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाते रहेंगे। इसके विपरीत, यदि हम यह सोचकर कि पता नहीं हमारा कब अंत हो जाए, अपना मुँह लटकाकर बैठ जाएँ, तब हम जितना करने की क्षमता रखते हैं उससे बहुत कम कर पाएँगे। लोग बड़े-बड़े काम तभी शुरू और पूरे कर पाते हैं जब वे जीवन के प्रति आशावान रहते हैं। चूँकि हमें 'एक दिन मरना' है या 'किसी भी दिन मर जाना' है, इसलिए रोज श्मशानघाट का रास्ता नापना शुरू कर दें, तब तो हम पहले से

ही अधमरे हो जाएँगे। जब हम संसार में आए हैं तो अधमरा बनने के लिए नहीं, या तो 'हर दिन' जीने के लिए आए हैं या 'सिर्फ एक बार' मरने के लिए आए हैं। इसलिए जब तक जीना है, मर-मरकर न जिएँ, जी-जीकर जिएँ।

आदमी मूलतः अच्छा ही होता है

जब कोई व्यक्ति किसी जाने-अनजाने व्यक्ति से उसकी घड़ी में टाइम पूछता है तो वह शायद ही कभी गलत टाइम बताता होगा। वह टाइम पूछनेवाले के साथ यथाशक्ति विश्वसनीय व्यवहार करता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसीका ठौर-ठिकाना पूछता है तब वह अपनी जानकारी के हिसाब से उसे अधिकाधिक सही जानकारी देता है। वह उसकी स्वतःस्फूर्त निष्काम मदद करता है।

इन उदाहरणों से जाहिर है कि आदमी में अच्छापन मूल रुप से विद्यमान रहता है। यदि वह अपनी इस अच्छाई को विपरीत परिस्थितियों में भी बनाए रखता है, तब वह 'बहुत बड़ा आदमी' बन जाता है।

व्यक्ति अच्छे से बुरा किसी दबाव में ही बनता है। वह दबाव अनेक प्रकार का हो सकता है—कभी अभावों का, कभी लोभ का, कभी भय का, कभी अन्याय का इत्यादि।

अभावों में ठीक से जी पाना बहुत कठिन है। 'भूखे भजन न होय गोपाला।' यदि किसीको पेट भरने के लिए खाना, तन ढकने के लिए कपड़ा और सुरक्षित रहने के लिए छत नसीब न हो तो वह सही रास्ते से भटक सकता है। जो व्यक्ति अभावों में भी अच्छा बना रहे, वह संत है।

लोभ का कोई अंत नहीं है। लोभी के लिए लाखों रुपए रोज की आमद भी कम है। चूँकि उसकी नीयत और हवस कभी पूरी नहीं होती, इसलिए वह अपनी लिप्सा-पूर्ति के मायाजाल में पड़कर मृत्युपर्यंत गलत कार्य करता चला जाता है। जो व्यक्ति लोभ को जीतता हुआ अपने अच्छेपन को न छोड़े, वह पूज्य है।

भय भी आदमी को अच्छाई से दूर कर सकता है। उसके दबाव में आकर कई बार आदमी अच्छा चाहते हुए भी विपरीत कार्य करने को मजबूर हो जाता है। जो व्यक्ति भय को नकारता हुआ बुरी करनी के चंगुल में न फँसे, वह महान् है।

अन्याय की अति विद्रोह को जन्म देती है। उसे सहते-सहते आदमी का हिंसात्मक तक हो जाना असंभव नहीं है। जो व्यक्ति अन्याय के सामने बिलकुल न झुके, वह सच्चा इनसान है।

आदमी को पथभ्रष्ट करने के लिए उसपर भिन्न-भिन्न प्रकार के दबाव जीवन भर पड़ते रहते हैं; पर जो व्यक्ति मानवता को नहीं छोड़ता और अपनी अच्छाइयों की जड़ें मजबूत बनाए रखता है, उसे बुराइयों के झंझावात नहीं उखाड़ पाते।

उसे कमजोर बनानेवाले दबावों को दबाने के लिए केवल दो चीजें चाहिए—त्याग और साहस। यदि वह इन दो हथियारों को हाथ में लेकर चले तो उसकी मूलभूत अच्छाई को कोई नहीं छीन सकता।

जो हुआ, अच्छा हुआ

गीता-सार का पहला वाक्य है—'जो हुआ, अच्छा हुआ।' इस विषय पर गंभीरता से विचार करके इसे अमल में लाने से आदमी को परम संतोष प्राप्त हो सकता है। आइए, इसकी व्याख्या करें।

जो हुआ, यदि वह हमारे मन के अनुकूल हुआ है, तब तो अच्छा हुआ ही है; लेकिन यदि वह हमारे मन के प्रतिकूल हुआ है, तब भी अच्छा हुआ है, यह कैसे? यह ऐसे कि हमें हर वक्त याद रखना होगा कि जो बीत चुका, उसपर अब किसीका वश नहीं है, क्योंकि उसे कोई वापस नहीं ला सकता। इसलिए उसे याद कर-करके अपने मन को कष्ट देना समझदारी नहीं है। जिंदगी का साथ निभाने के लिए 'बीती ताहि बिसार दे' बहुत जरूरी है। आपने यह मशहूर गाना सुना होगा—'मैं जिंदगी का साथ निभाता चला गया...जो खो गया मैं उसको भुलाता चला गया।'

हर 'हुए' को अच्छा मान लेने का लाभ यह है कि बीमार होने की आशंका से भी पहले बीमारी का इलाज हो जाता है। यदि आदमी ऐसा नहीं करता है—अर्थात् अपने साथ 'खराब हुए' को 'भाग्यहीनता' कह-कहकर विलाप करता रहता है तो वह अपना वर्तमान भी खराब करता रहता है और अपना भविष्य अच्छा होने की दृष्टि से भी अपना समय और श्रम नष्ट करता रहता है।

सच्चे संतों की मान्यता है कि सुख और दुःख को समभाव से देखो। इसका मतलब है कि अपने मन पर इतना नियंत्रण रखो कि वह न तो सुख में पागल हो और न दुःख में। जिन सज्जनों को यह महान् सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उनके लिए 'जो हुआ, अच्छा हुआ' का मंत्र शुद्ध वायु में साँस लेने के समान हो जाता है।

आदमी संसार में अकेला नहीं है। उसकी इच्छाओं से बहुत से व्यक्तियों की अनेक इच्छाओं का टकराव होता रहता है। जब हम यह जानते हैं कि दूसरे व्यक्तियों की भी अल्पाधिक इच्छाओं की पूर्ति (और अपूर्ति) अनिवार्य रूप से होनी है तब हम यह अपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि 'हमारी' सभी 'इच्छाएँ' पूरी हो जानी चाहिए। सच तो यह है कि यदि हमारे ही हाथों में अपने जीवन का पूरा संचालन-प्रबंधन हो, तब भी हम पूर्णरूप से सुखी नहीं बन सकते; क्योंकि हमारे लिए समाज में अन्यों की पूर्ण उपेक्षा करके जीना संभव नहीं है। उधर, हमारा दुःख तब अधिक सिर उठाता है जब दूसरों की कोई बात पूरी हो जाने और हमारी बात पूरी न हो पाने की स्थिति बनती है। बस यहीं हमें उस दुःख का

सफाया करने और अपने मन का संतुलन बनाए रखने के लिए 'जो हुआ, अच्छा हुआ' के अस्त्र का सदुपयोग करना चाहिए।

मार्ग की बाधाएँ

एक साइकिल सवार की साइकिल का पहिया सड़क के बीच में पड़े एक पत्थर से टकरा गया। साइकिल सवार ने झुँझलाकर वहाँ पत्थर डालनेवाले के नाम पर गंदी-गंदी गालियाँ दे डालीं। उसके ऐसा करने से न तो पत्थर डालनेवाले का कुछ बिगड़ा और न उसकी गालियाँ सुननेवाले राहगीरों ने उसके बारे में अच्छी धारणा बनाई। जो कुछ बिगड़ा, सिर्फ उसका बिगड़ा—मूड बिगड़ा, जबान बिगड़ी।

एक भोला सा राहगीर उससे बोला, 'सड़क के बीच में पत्थर डाल देनेवाले ने तो जरूर गलती की है, भैया, मानते हैं; पर 'तुमने' पत्थर को सड़क पर पड़े हुए क्यों नहीं देखा?' सुनकर साइकिल सवार उसपर भी यह कहकर बिगड़ उठा कि मुझे अंधा कहता है। लोग हँसने लगे।

इस घटना में हार साइकिल सवार की 'दृष्टि' की ही नहीं, 'बुद्धि' की भी हुई। यानी जिस व्यक्ति ने पत्थर वहाँ डाला था, उसकी एक तरह से जीत हो गई। साइकिल सवार की जीत तब होती जब वह पत्थर से अपने को बचाता हुआ निकल जाता। उसकी और भी बड़ी जीत तब होती जब वह पत्थर को उठाकर किसी कोने में रख देता, ताकि उसकी तरह किसी और की साइकिल उससे न टकराए।

ऐसा अकसर होता है कि हम अपनी आँखें खुली रखने के बजाय विविध क्षेत्रों में दूसरों से भारी अपेक्षा रखते हैं कि वे हमारे लिए मार्ग साफ-सुथरा बनाकर रखेंगे। ऊपर वर्णित मामूली सी घटना से हम एक बड़ी सीख ले सकते हैं कि जीवन-पथ में तरह-तरह की बाधाएँ आती हैं, जिनको पार करने के लिए हम स्वयं अपनी दृष्टि और बुद्धि का उपयोग करते हुए अपना रास्ता खुद बनाएँ और आगे बढ़ने के लिए यह न सोचें कि हमें हर रास्ता बना-बनाया मिलेगा। बाधाओं को देखकर कुढ़ने और बाधाएँ उपस्थित करनेवाले प्राणियों को कोसने से कुछ हाथ नहीं लगेगा।

योग्यता से सदाचार पहले

एक विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष किसी बैठक में शामिल होने के लिए एक अन्य विश्वविद्यालय गए थे, जहाँ उन्होंने वहाँ के अपने विषय के विभागाध्यक्ष से किसी ऐसे व्यक्ति का नाम सुझाने को कहा, जिसे वे अपने विश्वविद्यालय

में नियुक्त करा सकें। दूसरे विभागाध्यक्ष ने अपने जाने-पहचाने एक व्यक्ति की शैक्षणिक योग्यताओं का धुआँधार गुणगान कर डाला। पहले विभागाध्यक्ष पर्याप्त संतुष्ट होते हुए बोले कि यह सब बिलकुल ठीक है, पर अब यह बताइए कि वह 'आदमी' कैसा है? उनका मतलब यह था कि वह व्यक्ति शैक्षणिक दृष्टि से चाहे कितना भी अच्छा हो, पर यदि आदमी के रूप में अच्छा नहीं है तो बिलकुल बेकार है।

सिद्ध है कि सदाचार का नंबर पहले आता है, विद्वत्ता का बाद में।

आप किसी अविद्वान्, लेकिन शरीफ आदमी को भले ही बरदाश्त कर लें, पर ऐसे विद्वान् को बरदाश्त नहीं करना चाहेंगे, जो दुष्ट प्रकृति का हो। रावण बहुत विद्वान् था, पर आप उसे पसंद नहीं करते। क्यों?

एक हलका-फुलका उदाहरण लें। यदि किसी बड़े ओहदे पर बैठा हुआ अधिकारी संभ्रांत महिलाओं के भी सामने माँ-बहन की गालियाँ बक देता हो तो उसे आप जरूर निम्न स्तर का कह देंगे।

औलाद वही अच्छी कही जाती है, जो बहुत योग्य और बड़े पद पर आसीन होने के बाद भी अपने अनपढ़ माता-पिता तक के प्रति सदाचारी रहती है (बशर्ते वे भी दुराचारी न हों)।

किसीकी विद्वत्ता दूसरों के दिमाग से आगे नहीं बढ़ती, जबकि किसीका सदाचार दूसरों के दिल तक पहुँच जाता है।

यदि आप दूसरों के दिल को छूना जानते हैं तो आप सदाचार के गुण से युक्त हैं।

दूसरी ओर, यदि कोई परम योग्य वैज्ञानिक अपनी सारी योग्यता केवल विध्वंसकारी वस्तुओं के आविष्कार और निर्माण में लगाता है तो उसे शायद ही कोई व्यक्ति अच्छा आदमी कहना चाहेगा।

❋ कर्म से फल का नाता ❋

इस बात को बच्चे भी सिद्ध कर देंगे कि आदमी का जैसा कर्म होता है वैसा ही उसको फल मिलता है। यहीं।

आप खुशबूदार फूल सूँघने का 'कर्म' कीजिए, आपको अपनी तबीयत खुश होने का अच्छा 'फल' मिलेगा। आप बदबू सूँघने का कर्म कीजिए, आपको मन खराब होने का फल मिलेगा।

आप संतुलित भोजन कीजिए, आपको अच्छे स्वास्थ्य का फल मिलेगा। आप नाक तक ठूस-ठूसकर ऊलजलूल खाइए, आपको सड़े हुए स्वास्थ्य का फल मिलेगा।

आप अपने बच्चों को सही मार्ग पर चलाने का कर्म कीजिए, आपको जीवन भर सुखी रहने का फल मिलेगा। आप उन्हें कुमार्ग पर जाने दीजिए, आपका खुद का जीवन भी परेशानियों और निराशाओं से भर जाएगा।

कई बार हम गलत काम से मिली तात्कालिक सफलता से इस भ्रम में रहते हैं कि हमने बाजी मार ली—जुए की जीत शुरू में बहुत अच्छी लगती है—लेकिन वस्तुतः किसी बरतन में गंदगी एक सीमा तक ही छिपाई जा सकती है, बरतन भरने के बाद वह चारों ओर गिरकर सड़ाँध फैलाने लगती है, जिसके फलस्वरूप पूरा समाज उसपर थू-थू करने लगता है।

कई बार हमें लगता है कि हमें अपने अच्छे कर्मों का सुफल नहीं मिल रहा है। यह भी भ्रम है; क्योंकि यदि हम अच्छे कर्म कर रहे हैं तो हमें सुख का सबसे बड़ा आधार 'संतोष' अवश्य मिलना चाहिए। दूसरे, हम अपने कर्मों का मूल्यांकनकर्ता और बदले में मिलनेवाले इनाम का निर्णायक स्वयं को समझ बैठते हैं, जबकि निर्णायक होते हैं समाज के सब लोग। धैर्य रखिए। यदि अन्य बातें समान हों तो भोजन को पचकर खून आदि बनने में एक निश्चित समय लगता ही है।

'सुफल' की परिभाषा भी सरल नहीं है। अपने विवेक से हम इस बात को परखें कि अच्छा फल पाने के लिए हम अधिक स्वार्थी तो नहीं हो रहे हैं। परीक्षा में अच्छे उत्तर लिखनेवाले विद्यार्थी अनेक होते हैं, पर वे सब एक समान बहुत अच्छे अंक पानेवाले नहीं हुआ करते। तुलनात्मकता और आपेक्षिकता अनिवार्य है। कर्मों के मामले में हमें यह तथ्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कुछ लोगों से यदि हमारे कर्म अच्छे रहते हैं तो हमारे कर्मों से भी कुछ लोगों के कर्म अच्छे रहते हैं। इसीलिए यह कहना गलत नहीं है कि 'फल की चिंता छोड़ दो' और 'जो होता है, अच्छा ही होता है'।

व्यर्थ की झेंप

एक साहब अपने स्कूटर पर पीछे गैस सिलिंडर रखकर ले जा रहे थे, जिसे उन्होंने एक चादर से ढक दिया था। ढकने का कारण सिर्फ यह था कि लोगबाग यह न देख लें कि वे सिलिंडर ढोने का 'छोटा काम' खुद कर रहे थे। जाहिर है कि उनकी मान्यता थी कि सिलिंडर ढोने से आदमी छोटा हो जाता है, भले ही वह उसे अपने महँगे और शानदार स्कूटर पर ढो रहा हो।

सच्चाई यह है कि आदमी जब मन से छोटा होता है तब वह बाजार से खुली झाड़ू खरीदकर लाने में भी अपने को छोटा समझता है, और घर का कूड़ा बाहर यथास्थान फेंकने में भी अपने को छोटा समझता है कि कहीं कोई उसे देखकर

'नरक का प्राणी' न समझ ले। ऐसे लोग घर का और अपने दिमाग का कूड़ा भी यथासमय बाहर फेंक पाने में विफल रहते हैं।

इसके विपरीत, आदमी जब मन से बड़ा होता है तब उसे ये छोटी-छोटी बातें बिलकुल नगण्य लगती हैं। उसकी इज्जत इतनी ढुलमुल नहीं होती कि वह सिलिंडर ढोने या झाड़ू हाथ में लेकर चलने या कूड़ा बाहर फेंकने से डाँवाँडोल हो जाए।

कुछ लोगों को भ्रम होता है कि कुछ काम सिर्फ नौकरों के करने के होते हैं। ऐसे लोग वस्तुतः नौकरों के मोहताज होते हैं। ये नौकर क्या हैं?—ये ऐसे लोगों के हाथ-पैर हैं। यदि नौकर मिलकर इन लोगों को सबक सिखाना शुरू कर दें तो इनका दो कदम चलना दुश्वार हो जाए। गनीमत है कि ऐसे लोगों को अपने बदन पर अपने हाथों से साबुन लगाने में और शौचोपरांत प्रक्षालन क्रिया करने में अपनी शान घटती हुई नहीं लगती!

हमें शुक्रगुजार होना चाहिए उन व्यक्तियों के प्रति, जो हमारे बहुत से रोजमर्रा के कामों में हमारी मदद करते हैं; लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम उनके काम को छोटा समझें। यदि हमारे अंदर गलत भाव-ग्रंथियाँ नहीं हैं तो हम उनके द्वारा हमारे लिए किए जानेवाले हर 'छोटे कहे जानेवाले' काम को जरूरत पड़ने पर बिना किसी झेंप के और बिना किसीकी परवाह किए कर सकते हैं। ऐसे में यदि कोई हमपर हँसता है तो हम भी उसपर हँस दें—उसे 'बेचारा' मानकर।

अच्छा आदमी ही अच्छाई बाँट सकता है

जो चीज हमारे पास नहीं है, उसे हम दूसरों को कैसे दे सकते हैं! धनी आदमी ही दूसरों को धन दे सकता है। आप जिस विषय के ज्ञाता हैं उसी विषय पर दूसरों को ज्ञान दे सकते हैं। किसी बेवकूफ आदमी से समझदारी की बातों की आशा नहीं की जा सकती।

यदि आप खूब सम्मानित व्यक्ति हैं, तब भी समाज के सब लोगों से सम्मान पाने की अपेक्षा मत कीजिए; क्योंकि काफी लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं सम्माननीय न होने के कारण 'सम्मान' का अर्थ नहीं जानते। चूँकि उनके पास सच्चे सम्मान का अभाव होता है, इसलिए वे दूसरों को सम्मान नहीं दे पाते। उनपर क्रोध मत कीजिए, उनपर तरस खाइए। धनिया बेचनेवाले से आप स्वर्णाभूषण पाने की उम्मीद नहीं लगा सकते।

जिसके दिल में प्रेम रहता है, वही प्रेम बाँट सकता है। जिसके दिल में घृणा और ईर्ष्या रहती है, उसके भीतर से वही बाहर निकलती है। यदि आप अपने

प्रति बुरे भाव रखनेवाले व्यक्ति से बचते हुए बिलकुल शांत रहें तो आप बहुत सुखी रहेंगे। उसकी घृणा और ईर्ष्या को बिलकुल मत स्वीकार कीजिए। अपने मन को थोड़ा भी विचलित मत होने दीजिए। यदि आप निरंतर शांत रहें तो वह आपसे शांति के अलावा कुछ नहीं पाएगा। इसके विपरीत, यदि आप अंदर से साफ-सुथरे नहीं हैं, आपमें सहनशीलता और क्षमाशीलता की कमी है तो आप उसे गालियाँ देना शुरू कर देंगे। फिर उसमें और आपमें फर्क ही क्या रहा!

कहते हैं कि लेनेवाले से देनेवाला बड़ा होता है। आप समाज-हित के नाम पर बहुत अच्छे देनेवाले साबित हो सकते हैं। बस सबको इज्जत दीजिए। खूब इज्जत बाँटिए, जो इस बात का सबूत होगा कि आपके अंदर इज्जत का विपुल भंडार है।

विश्व का अनुभूत सत्य है कि देनेवाला हमेशा सुखी रहता है, जबकि याचक कभी सुखी नहीं रह पाता। न माँगते वक्त, न माँगे हुए का उपभोग करते समय। प्रकृति का नियम है कि जो व्यक्ति जो कुछ देता है, वही बहुगुणित होकर विभिन्न दिशाओं से उसके पास लौटकर आता है।

श्रद्धा के लाभ

'श्रद्धावान् लभते'। यदि आप किसीके प्रति श्रद्धालु नहीं हैं तो आपको अपेक्षित लाभ नहीं मिल सकेगा। मंदिर तक पहुँचनेवाले को ही देव दर्शन-लाभ मिलता है।

किसीसे कुछ सीखने के लिए आदमी का छोटा बनना जरूरी है। उसे नीचे बैठना पड़ता है। कोई दी जानेवाली चीज ऊपर के हाथ से नीचे के ही हाथ को मिलती है। नदियाँ पहाड़ों से नीची होने के कारण ही उनसे विपुल जलराशि ग्रहण करती रहती हैं।

यदि हम देनेवाले को अक्षम मानकर, उसकी हँसी उड़ाकर उससे कुछ चाहते हैं, तब हम उससे सही लाभ नहीं ले सकते। दूसरे शब्दों में, हमें जिससे कुछ ग्रहण करना होता है, उसे उस क्षेत्र में अपने से बड़ा मानना होता है।

ईश्वर, माता-पिता, गुरु आदि से हमें इसीलिए हमारा प्राप्य मिलता है कि हम अपने को उनसे छोटा मानते हैं। स्वयं को छोटा मानने का मतलब है 'हममें नम्रता का गुण होना'। देनेवालों के उपकार का स्रोत भी तभी तक खुला रह सकता है जब तक उन्हें 'देनेवाला' माना जाए। उनका बुरा सोचकर हम उनसे अच्छा पाने की आशा नहीं कर सकते। वे मशीन नहीं, प्राणी होते हैं (जबकि मशीन तक को अच्छा उत्पादन देने के लिए अच्छी तेल-सफाई और उचित हस्तन-संचालन चाहिए)।

'श्रद्धा' के अर्थ का विस्तार करके हम उपर्युक्त तथ्य को निर्जीव वस्तुओं पर भी लागू कर सकते हैं। पढ़ाई हो या नौकरी, गृहकार्य हो या व्यापार, जब तक हम अपने काम को श्रद्धापूर्वक (निष्ठापूर्वक, मनोयोगपूर्वक) नहीं करते हैं तब तक हमें उससे स्थायी लाभ मिलने की संभावना नहीं रहती।

कहते हैं कि श्रद्धा यदि पत्थर में हो, तब भी लाभ मिलता है; क्योंकि श्रद्धा करने के फलस्वरूप हमारा अहंकार दबा रहता है और गुणों के विकास का रास्ता खुला रहता है, जिससे सफलता सुगम हो जाती है।

हम अच्छाई में जितनी अधिक श्रद्धा रखते हैं, हमारे अंदर अच्छाई उतनी ही अधिक जड़ें जमाती है।

...से बचना सीखिए

नियम तोड़नेवाले कुछ लोग अज्ञानी और अयोग्य होते हैं तथा कुछ लोग राक्षसी प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे लोगों को सुधारने की कोशिश करने का मतलब या तो 'भैंस के आगे बीन बजाना' है या 'आ बैल मुझे मार' है। उन्हें जब बड़े-बड़े संत और सर्वोच्च न्यायालय भी नहीं सुधार पाए तो आप क्या सुधार पाएँगे!

आप अपने वाहन से कहीं जा रहे हैं। सड़क पर कूड़े-कचरे का ढेर सामने आता है। आप उससे वाहन को बचाते हुए आगे बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार सड़क पर बहुत बेहूदे ढंग से दौड़ता हुआ कोई वाहन आ रहा है। आप अपने वाहन को धीमा करके काफी किनारे हो जाते हैं। यही तरीके श्रेयस्कर हैं। न तो आप अपने वाहन को कूड़े पर चढ़ाते हैं और न उसे दूसरे वाहन से भिड़ाते हैं।

आपके मन को शांति तभी मिल सकेगी जब आप यह मानकर चलें कि मानव और उसका यह संसार बेहद अपूर्ण है। आप दूसरों की अपूर्णताओं पर चिंतित और परेशान होकर अपना संतुलन न खोइए और अपनी ऊर्जा एवं समय को बरबाद न कीजिए। उतनी बचत से आप अपने लिए बहुत कुछ कर सकते हैं।

जीवन का लक्ष्य आत्मोन्नति है, भैंसों और राक्षसों को इनसान बनाने में अपना समय और मूड खपाना नहीं। आपके सन्मार्ग का रोड़ा बनने के लिए इनसानियत की परीक्षा में सदा फेल होनेवाले कुछ प्राणी हर युग में रहे हैं और हर युग में रहेंगे। इन्हें अपने लिए महत्त्वहीन मानते हुए इनसे दूर रहिए। जीवन के हर क्षेत्र में आप कुछ चीजों का वरण करते हैं और कुछ का त्याग करते हैं। इनका त्याग कीजिए। वरण किए जाने के लिए सैकड़ों अन्य लोग और उनकी अच्छाइयाँ हैं। यदि नियमों को तोड़कर संसार को जंगल बनाने की चेष्टा करनेवाले लोग दुनिया में हैं तो ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो नियमों का पालन करके संसार को जीने लायक बनाने के लिए प्रयास करते रहते हैं। विश्वास कीजिए कि आप इन्हींमें से एक हैं, अन्यथा आप इस लेख को पूरा न पढ़ते।

अपना और दूसरों का मूल्यांकन

एक बहुत नए छुटभैए कवि ने अपने दोस्तों में अपनी तुकबंदियाँ सुनाने के बाद सीधे नीरज के पास वे 'कविताएँ' यह लिखकर भेज दीं कि इनपर समीक्षा लिख दीजिए, मैं उसे यहाँ के समाचारपत्र 'मोहल्ला जागरण' में छपवाऊँगा। यह उस कवि की घोर नादानी थी।

अपने किसी छोटे स्तर के समय-खपाऊ काम को पूरा करने के लिए किसी बहुत बड़े आदमी को तंग मत कीजिए। इसमें कोई शक नहीं है कि वह काम आपके लिए महत्त्व का हो सकता है; लेकिन यह भी सही है कि बड़ा आदमी अपनी भारी जिम्मेदारियों और बड़े स्तर के कामों में इतना ज्यादा घिरा रहता है कि उसके पास आपके उस काम के लिए दम मारने की भी फुरसत नहीं रहती है —विशेषकर ऐसे काम के लिए, जिसे आप अपेक्षाकृत बहुत छोटे आदमियों से भी करवा सकते हैं। अपना कोई बचकाना काम बड़े आदमी पर लादकर आप उसकी हैसियत को बहुत नीचा आँकते हुए उसकी बेइज्जती करते हैं और अपनी औकात को असलियत से बहुत ऊँचा मानते हुए अपना हलकापन सिद्ध करते हैं।

आपका स्वार्थ अपनी जगह ठीक है; पर ऐसे अवसरों पर उस स्वार्थ की तुलना में आपका अज्ञान और आपकी कूपमंडूकता अधिक सिद्ध होती है, क्योंकि आप बड़ों के बड़ेपन की ऊँचाई को लेश मात्र भी नहीं नाप पाते।

बी.ए. प्रथम वर्ष की एक छात्रा ने विश्वविद्यालय के कुलपति के पास एक पत्र भेजकर यह पूछा कि मुझे इन-इन शब्दों के सही अर्थ और प्रयोग लिख भेजिए। ऐसी नासमझी पर कह दिया जाता है कि 'मक्खी आखिर कितना ऊँचा उड़ेगी!'

कृपया मक्खी न बनिए। किसी काम को करवाने के लिए दूसरों को सौंपने के पहले अपना भी मूल्यांकन कीजिए और सामनेवाले का भी।

हमारे अच्छेपन का निर्णय

एक साहब अकसर कहा करते हैं कि उनका फोटो कभी अच्छा नहीं आता। उनके कुछ फोटो हमने देखे। अच्छे-खासे थे; बल्कि दो-चार बहुत अच्छे थे— उनकी शक्ल से काफी ज्यादा अच्छे। पर नहीं। उन्हें उनसे भी ज्यादा खूबसूरत फोटो चाहिए, क्योंकि वे अपने को बेहद खूबसूरत समझते हैं। असलियत यह है कि उन्हें अपनी खूबसूरती के बारे में सही जानकारी नहीं है।

हमारे एक पड़ोसी अपने से हर दृष्टि से बड़े लोगों को भी मामूली-से-मामूली बात को इस प्रकार विस्तार से समझाना शुरू कर देते हैं मानो वे अपनी सात

बरस की बच्ची को समझा रहे हों। वे अपने को बेहद अक्लमंद समझते हैं। उन्हें अपने ज्ञान के बारे में सही जानकारी नहीं है। वे दूसरों के ज्ञान को बिलकुल नहीं आँक पाते।

अपने आप पर फिदा एक और साहब हैं, जो कई बार आपके लिए इसलिए मुसीबत बन जाते हैं कि वे आपसे आपकी रुचि की कोई भी बात न करके सिर्फ अपने बारे में धुआँधार बात करते चले जाते हैं। उनकी बातों में कितने ही संदर्भ ऐसे आते हैं, जिनसे आपका इस जन्म में कभी साबिका नहीं पड़ने वाला है।

उक्त प्रकार के लोग स्वयं में इतने लिप्त रहते हैं कि उन्हें यह भी सोचने की फुरसत नहीं होती कि संसार में और भी प्राणी रहते हैं। वे यह नहीं सोच पाते हैं कि दूसरे लोग उन्हें काफी नापसंद करते हैं।

ऐसे स्व-केंद्रित लोगों से हम यह सीख ले सकते हैं कि हम उनके जैसे स्व-केंद्रित न बनें। हम समाज का सही अंग बनें। अच्छा बनने के लिए हम दूसरों का भी ध्यान रखना सीखें। हम स्वयं को जरूरत से ज्यादा सुंदर या योग्य या महत्त्वपूर्ण या अच्छा न समझें, क्योंकि हमारे समझने से कुछ नहीं होता। हम अपने को चाहे कितना भी अच्छा समझें, हम तब तक अच्छे नहीं हैं जब तक हमें दूसरे लोग अच्छा न कहें।

स्वयं से बाहर निकलें

कभी-कभी आदमी के एक वाक्य से ही बहुत कुछ पता चल जाता है कि वह कैसा है।

छुट्टी का दिन नहीं था। एक परिचित अध्यापक महोदय सुबह घर आए। उनका एक छोटा सा काम था। बात शुरू करने के पहले वे बोले कि उन्हें कॉलेज जाना है, जरा जल्दी है। ठीक है। उनसे बैठने के लिए निवेदन नहीं किया गया। काम की बात निबट गई। वे बढ़कर बैठते हुए अपनी पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी व्यर्थ की गाथाएँ गाने लगे—सौ प्रतिशत अपनी रुचि की। पौन घंटे से ऊपर बिता दिया। उठते हुए फिर बोले, 'चलूँ, मुझे कॉलेज जाना है। जरा जल्दी है। तैयार होना है।' (यहाँ कृपया उनके 'मुझे' की गहराई पर ध्यान दीजिए।)

उन महोदय के दिमाग में यह बात एक बार भी नहीं आई कि वे जिसके यहाँ बिना पूर्व सूचना दिए गलत समय पर पहुँचकर इतनी देर से लदे हुए हैं, उसे भी कॉलेज जाना है, उसे भी तैयार होना है।

ऐसे लोग 'अपने लिए' बहुत अच्छे होते हैं, बस। और दूसरों के लिए? अरे, अगर आप किसीको 'गुड़' नहीं दे सकते तो 'गुड़ की-सी बात' तो दे सकते हैं। यदि वे महोदय चलते समय इतना भी कह देते कि चलूँ, आपको भी कॉलेज के लिए तैयार होना है—तब भी उन्हें शिष्टाचार के नाम पर माफी मिल सकती

थी। लेकिन नहीं, शिष्टाचार प्रत्येक के वश की बात नहीं है। उसके लिए पहली जरूरत है आदमी का सिर्फ 'प्राणी' नहीं, 'सामाजिक प्राणी' होना। अगर आदमी समाज में रहकर भी भीतर से केवल 'व्यक्ति' तक सीमित है तो वह दूसरों को सिर्फ कष्ट देगा।

एक सामान्य या अच्छा सामाजिक ऐसे अवसरों पर सिर्फ अपने को महत्त्व देता हुआ नहीं, अपने सामनेवाले को भी, बल्कि उसे ही महत्त्व देता हुआ बोलता है।

एक साहब जब भी किसीको चाय पिलाने की बात करते हैं तो उनके मुँह से यह कभी नहीं निकलता कि आइए, चाय पीजिए; वे हमेशा यह कहते हैं कि आइए, हम आपको चाय पिलाएँ। उनका सारा जोर 'हम' पर रहता है।

इस 'मैं' और 'हम' की बीमारी से कोई-कोई बड़ा लेखक और राजनीतिज्ञ भी ग्रस्त रहता है, जिसकी कलम और मुँह से निकली हुई कोई भी बात बिना इन शब्दों की घोर वैयक्तिक और पाठकों-श्रोताओं के लिए उबाऊ आवृत्ति के पूरी नहीं हो पाती।

सामाजिक हित के लिए आदर्श स्थिति यह है कि आप दूसरों की बात करें और दूसरे आपकी बात करें। आपकी करनी खुद जगह-जगह जाकर बोलने लगेगी।

असफलता को अधिक महत्त्व न दें

एक साहब को समाचारपत्रों में छपनेवाली शब्द-वर्ग पहेली भरने का बहुत शौक है। हर दिन भरते हैं और ज्यादातर पूरे सही हल तक पहुँच जाते हैं। जिस दिन कहीं कुछ छूट जाता है उस दिन उनकी बेचैनी देखते ही बनती है। शब्द विशेष की खोज में बेहद परेशान रहते हैं; बहुत देर-देर तक—बल्कि बार-बार दिन भर।

यों किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आदमी में उत्कट लगन का होना काफी अच्छी बात है; लेकिन लक्ष्य कितना महत्त्वपूर्ण है, इसका भी चयन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। किसी मामूली सी बात के लिए घंटों बरबाद कर डालना और कसमें खा लेना केवल अड़ियलपन है। किसी बड़े पेड़ के सारे पत्तों को गिनने का प्रण करना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

कई बार आदमी को किसी दिशा में कठिन-से-कठिन परिश्रम करने पर भी सफलता नहीं मिला करती। चिंता में घुलने की कोई बात नहीं है। सूक्ति है कि 'जीवन का यह विधान है कि जब हमारे लिए एक रास्ता बंद हो जाता है तो दूसरा खुल जाता है।' किसी जगह पर खड़े हुए आप जरा-जरा सा घूमकर चारों तरफ कदम बढ़ा सकते हैं।

जो लोग, उदाहरण के लिए, कई प्रयासों के बाद भी आई.ए.एस. नहीं बन पाते, वे जान नहीं दे देते। वे दूसरा या तीसरा रास्ता चुन लेते हैं। स्थिति के अनुसार लोग अपनी नौकरी बदल लेते हैं और धंधा भी बदल लेते हैं।

हमें यह मानने में झेंप नहीं लगनी चाहिए कि हम बहुत से कामों को करने में सक्षम नहीं होते हैं; हमारे लिए अनेक काम असंभव रहते हैं। सबके लिए रहते हैं। हम यह सदा याद रखें कि हम समुद्र नहीं लाँघ सकते। साथ ही यह भी मानकर चलें कि कुछ कामों का पूरा होना और न होना योग और संयोग पर भी निर्भर करता है।

उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में हम अपने विवेक से यह निर्णय लेने में पर्याप्त निश्चिंत और सही हो सकते हैं कि हमें किस काम में किस हद तक सफलता मिल सकती है और किसमें नहीं।

संतोष और स्वास्थ्य

आप चाहे कितना भी अच्छा खाइए और चाहे कितनी भी कसरत कीजिए, यदि आपको दिन-रात असंतोष के असाध्य दौरे पड़ते हैं तो आपका स्वास्थ्य सुंदर नहीं हो सकता। असंतोष चिंताओं का जनक है और चिंताएँ शरीर को जलानेवाली अग्नि की अदृष्ट लपटें हैं।

हम असंतोष पर पूरी तरह विजय प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि उसके लिए इच्छाओं का पूरा दमन आवश्यक है; जबकि इच्छाओं के बिना आदमी जी नहीं सकता और तरक्की की चाह के लिए थोड़ा-बहुत असंतोष अनिवार्य भी है। पर हाँ, उसके आधिक्य और उसकी तीक्ष्णता को घटाने के लिए हमें इच्छाओं को कम जरूर करते रहना चाहिए।

संतोष से स्वास्थ्य का प्रगाढ़ संबंध है, इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए दो-तीन उदाहरण देखें—

विवाह की उम्र निकल जाने तक जब किसी लड़की की शादी नहीं हो पाती है तो वह सामान्यतया सूखने लगती है; लेकिन शादी होने पर संतोष मिलने के कारण उसमें 'स्वास्थ्य ही सौंदर्य है' उक्ति को सार्थक करनेवाला निखार आ जाता है।

जब नौकरी के लिए भटकते हुए युवक को नौकरी मिल जाती है और वह उससे संतुष्ट रहने लगता है तब अन्य बातें समान होने पर उसका स्वास्थ्य निरंतर अच्छा होता जाता है।

परिवारों का रोजमर्रा का अनुभव है कि पति और पत्नी में से जो एक कुढ़ने में माहिर होता है, उसकी तुलना में दूसरा स्वस्थ रहता है; जब दोनों असंतोषी स्वभाव के होते हैं तब दोनों का हाल बुरा रहता है; और जब दोनों को एक-दूसरे

की तारीफ करते रहने में संतोष मिलता है तब दोनों को डॉक्टर के पास जाने की जरूरत नहीं पड़ा करती।

नियम-पालन और अपवाद

नियम जीवन में व्यवस्था लाने और समाज में अनुशासन बनाए रखने के लिए होते हैं। उनका पालन—और सख्ती से पालन बहुत अच्छी बात है; लेकिन पागलपन की हद तक नहीं। कभी-कभी ऐसी स्थिति निर्मित हो जाती है कि नियम विशेष को तोड़ देना ही विवेकपूर्ण रहता है। उदाहरण के लिए, यदि सामने से कोई अनियंत्रित वाहन गलत दिशा में ताबड़तोड़ चला आ रहा है तो हमारा इस जिद पर अड़ा रहना मूर्खता होगी कि हम नियम का पालन करते हुए अपने बाईं ओर ही चलते रहें।

सामाजिक नियम सार्वकालिक और सार्वभौम नहीं हुआ करते। यही कारण है कि उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी कर लिये जाते हैं।

एक साहब के सामने भोजन की थाली ठीक साढ़े नौ बजे आ जानी चाहिए। उनकी श्रीमतीजी की ओर से उनके इस नियम में शायद ही कभी व्यवधान पड़ता हो; लेकिन कभी-कभी अच्छी-से-अच्छी मशीन भी सकारण फेल हो जाती है। एक बार थाली सामने पहुँचने में चार-पाँच मिनट की देरी हो गई। बस, फिर क्या था, वे महाशय गुस्सा करके बिना भोजन छुए उठ गए। (यह भी नहीं पूछा-सुना कि विलंब क्यों हुआ।) उन साहब को 'नियम का पक्का' कहने के बजाय 'झक का पक्का' कहना अधिक उपयुक्त होगा। (यों वे खुद खाने की मेज पर अकसर पाँच-सात मिनट आगे-पीछे आने के 'नियम' में स्वयं के लिए 'उदार छूट' रखते हैं!)

एक उदाहरण और। आप नियमित रूप से एक निश्चित समय पर पूजा करती हैं। जरूर कीजिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि घर में किसीके बीमार हो जाने के कारण अतिरिक्त काम बढ़ जाने से या किसी मेहमान के आ जाने से आप इस नियम में कोई हेर-फेर नहीं कर सकतीं। ऐसे में आपको यह मान लेना चाहिए कि भगवान् इतने स्वार्थी नहीं हैं कि वे आपको अपनी पूजा के बदले अन्य जरूरी काम करने की अनुमति न दें।

नियमों के साथ अपवादों का भी महत्त्व है। लेकिन नियमों को दिन-रात तोड़नेवाला व्यक्ति अपवाद का अर्थ नहीं समझता। उसकी नियमहीनता अपराध की श्रेणी में आती है। दूसरी ओर, दिन-रात नियमों के दायरे में काम करनेवाले व्यक्ति से यदि एकाध बार कोई नियम टूट जाता है (और उससे कोई पहाड़ नहीं टूट पड़ता) तो उसके नियम-पालन में कमी नहीं मानी जानी चाहिए। आकस्मिक अवकाशों से सर्विस में ब्रेक नहीं आया करता।

❋ बड़े पदवाले और छोटे पदवाले ❋

हमें कई बार अपने पद से ऊपर के पद पर बैठे हुए व्यक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार की शिकायतें रहती हैं; जैसे—वह हमारी पदोन्नति नहीं करता, वह हमारी सुख-सुविधाओं का ध्यान नहीं रखता, वह स्वार्थ में लिप्त रहता है, वह अन्यों का पक्ष लेता है इत्यादि। लेकिन यदि हम स्वयं को उसकी परिस्थितियों में डालकर देखें तो ये शिकायतें प्रायः निर्मूल होती हैं, क्योंकि हम अपना पक्ष तो सोच डालते हैं, पर उसकी जिम्मेदारियों और कठिनाइयों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दे पाते। जिस तरह हम चाहकर भी और कोशिश करके भी स्वयं अपने लिए या दूसरों के लिए बहुत सी बातें पूरी नहीं कर पाते हैं उसी तरह वह भी बहुत सी बातें चाहकर भी और कोशिश करके भी पूरी नहीं कर पाता है। जिस प्रकार हमारी सीमाएँ हैं उसी प्रकार हर बड़े की भी सीमाएँ होती हैं।

एक उपाध्यक्ष महोदय अपने अध्यक्ष के हर वक्त खिलाफ रहते थे। कुछ वर्ष बाद उन्हें अन्यत्र अध्यक्ष पद मिल गया। आजकल वे अपने पुराने अध्यक्ष के बेहद अनुकूल हैं, क्योंकि 'उनका अनुभव बढ़ गया है'। उन्हें अपनी नई जगह पर ठीक वही अभाव और अपने छोटों को कितनी ही बातों में संतुष्ट न रख पाने से संबंधित कठिनाइयाँ झेलनी पड़ रही हैं।

एक विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग के अध्यक्ष बार-बार अपने कुलपति से यह आग्रह करते थे कि उन्हें शीघ्र ही एक अध्यापक और दिया जाना चाहिए। उसकी उनके विभाग को सख्त जरूरत है। कुलपति के द्वारा सदा असमर्थता व्यक्त की जाने पर वे कुलपति को अल्पद्रष्टा और दोषी ठहराते थे। भाग्य से एक वर्ष बाद वे ही उस विश्वविद्यालय के कुलपति बना दिए गए। तब राजनीति विभाग के अगले वरिष्ठ अध्यापक अर्थात् कार्यकारी अध्यक्ष बहुत प्रसन्न होकर कि उनके पूर्व अध्यक्ष अर्थात् वर्तमान कुलपति उस विभाग के लिए अतिरिक्त अध्यापक की जरूरत को बहुत अधिक समझते ही हैं, अध्यापक की माँग लेकर उनके पास इस विश्वास के साथ गए कि कुलपति उनकी माँग को फौरन मान लेंगे। लेकिन नए कुलपति का उत्तर था—'पहले मेरी दृष्टि केवल राजनीति विभाग तक जाती थी, क्योंकि तब मैं कम ऊँचाई पर बैठा था। अब अधिक ऊँचाई पर बैठने से मेरी निगाह दूर-दूर तक जा रही है और मुझे बहुत से अन्य विभागों की भी उतनी ही बड़ी जरूरत दिखाई देने लगी है। यदि मैं केवल राजनीति विभाग को अध्यापक दे दूँगा तो उचित नहीं होगा।' इस घटना से यह सिद्ध होता है कि बड़े पदाधिकारी की जिम्मेदारियाँ भी बड़ी होती हैं और उसे ज्यादा बड़े क्षेत्र की जरूरतें देखनी होती हैं। साथ ही उसे बड़े पैमाने पर आलोचनाएँ और गालियाँ सहनी पड़ती हैं।

घर के बड़े को ही सब ओर की चिंता रहती है कि वह कहाँ से पैसा लाए, कैसे गाड़ी खींचे, कहाँ कटौती करे, किसको नाराज करे और किसकी बात कहाँ तक माने। वह सभी बच्चों आदि की इच्छाएँ पूरी करना चाहता है, सबका भला सोचता है, सबकी माँगों की पूर्ति की इच्छा रखता है (बशर्ते वह अंदर से बड़ा हो); पर ऐसा वह पूरी तरह से कर कभी नहीं पाता। छोटे समझते हैं कि बड़ा उनपर राज करता है; जबकि बड़े को सर्वदा प्राथमिकताओं के सहारे जीना पड़ता है। छोटे अपने हित-संपादन की तथा बड़ों की क्षमताओं की सीमाएँ नहीं जान पाते हैं। एक उदाहरण है कि घर के बच्चों की बढ़ती हुई शिकायतों पर एक बार पिता ने अपना पूरा वेतन बच्चों के हाथों में सौंपकर कहा कि घर का खर्च अब तुम लोग ही चलाया करो। कहने की जरूरत नहीं कि एक ही महीने में उन्हें नानी याद आ गई।

बहुत वर्ष हुए, पांडिचेरी के 'अरविंद आश्रम' में एक बार नपा-तुला मासिक राशन मिलने पर वहाँ के व्यक्तियों ने बाँटनेवाले से प्रतिदिन ज्यादा राशन की माँग की। उसने यह बात माँ को बताई। माँ ने अनपेक्षित ढंग से कह दिया कि वे जितना भी माँगें, दे दो। उनके इस उत्तर पर आश्चर्यचकित होते हुए बाँटनेवाला बोला कि ऐसे तो तीस दिन का राशन बीस दिन में ही समाप्त हो जाएगा। यह सुनकर माँ ने कहा कि तब उनसे कह देना कि राशन समाप्त हो गया। गजब का सादा, लेकिन उससे भी अधिक गजब का प्रभावशाली उत्तर था माँ का यह। सुनते ही आश्रम के सारे व्यक्तियों की आँखें खुल गईं कि यदि अभी हमने ज्यादा-ज्यादा खाया तो महीने के अंतिम दस दिन हमें भूखा रहना पड़ेगा। यह है बड़े और छोटे पदवालों का अंतर।

❋ रचनात्मकता में निष्ठा ❋

आदमी की रचनात्मक और विध्वंसात्मक वृत्तियों की नींव प्रायः बचपन में ही पड़ जाती है। इसमें 'बहुत कुछ' माता-पिता की ट्रेनिंग और संगी-साथियों के स्वभाव का हाथ रहता है। कुछ किशोर आरंभ से ही संयमित दीखते हैं, जबकि दूसरे समवयस्क तोड़-फोड़ करने के अलावा कुछ नहीं जानते। कोई बीमारी अचानक ही बाहर नहीं आया करती, वह पहले भीतर-ही-भीतर अपना घर बनाया करती है। बुरी आदतों को बीमारी ही समझिए। हर बीमारी की तरह बुरी आदतें भी शुरू में बहुत छोटी होती हैं, जो रोकी न जाने पर उग्र रूप धारण करती जाती हैं। बहुत मामूली उदाहरण है कि कुछ लोग साफ-सुथरी दीवार पर कोई भद्दी बात लिखकर उसे गंदा कर देते हैं। उससे उनके मन का विकार भी प्रकट होता है और सामान्य पढ़नेवालों के मन में लिखनेवालों के प्रति जुगुप्सा आदि

भी होती है। लिखनेवाला व्यक्ति यह नहीं सोच पाता कि इससे उसके प्रति सभ्य लोगों का भाव प्रशंसात्मक कभी नहीं हुआ करता।

छात्रावासों और विद्यालयों में बिजली के स्विच आदि कुछ छात्र सिर्फ तोड़ने के लिए तोड़ते हैं; उससे होनेवाले नुकसान, असुविधा और खतरे के बारे में सोच पाना शायद उन्हें विरासत में नहीं मिला होता। रेल के डिब्बों में भी की गई ऐसी टूट-फूट उसे करनेवालों की कुत्सित मनोवृत्ति की ही द्योतक होती है। खेतों से चोरी करके उन्हें कम-ज्यादा उजाड़ देना और वर्षों की अवधि तथा पर्याप्त मेहनत से तैयार हुए सड़क स्थित पेड़ों की टहनियाँ और विशेषकर होली पर बड़ी-बड़ी शाखाएँ तोड़ डालना बिगड़ी हुई औलादों के काम हैं। दूसरों का नुकसान करने में आनंद लेनेवाले ऐसे लोगों को खुद अपनी कमीज का एक बटन भी तोड़ने में बहुत दर्द होता है। यही असामाजिक लोग आगे चलकर समाज और राष्ट्र के लिए तब नासूर बन जाते हैं जब इनका हमला रेल की पटरियों की तोड़-फोड़ और जगह-जगह बम फोड़ने एवं हत्याएँ करने तक बढ़ जाता है। बचपन का छोटा सा चोर शह मिलने पर आगे चलकर डाकू बन जाता है। यदि बदनाम छात्र नेता राजनीति में चले जाते हैं तो वहाँ भी वे बदनामी के ही दायरे में हाथ-पैर मारा करते हैं।

साँपों से छुटकारा पाने का सही तरीका यह है कि सपोलों को ही नहीं पनपने दिया जाए। किसी भी चीज को सही दिशा में मोड़ तब तक जरूर दे दिया जाना चाहिए जब तक उसमें लचीलापन विद्यमान रहता है। इसका परोक्ष अर्थ यह निकलता है कि अपने आरंभिक जीवन में सज्जनता और शालीनता का पाठ पढ़नेवाले लोगों के संस्कार उन्हें जीवन भर इनसानियत की रचनात्मक भावभूमि पर बैठाए रखते हैं। जिसने शुरू से ही अच्छी भाषा और अच्छे व्यवहार पर अधिकार कर लिया हो, उसे आगे चलकर उससे संबंधित गलतियों के जाल में फँसने की स्थिति नहीं झेलनी पड़ती।

रचनात्मकता और विध्वंसात्मकता का संबंध हर घर से है, अड़ोस-पड़ोस से है, देश-विदेश से है। कहावत है कि चैरिटी घर से ही शुरू होती है। जो आदमी घर में संबंध अच्छे रखना जानता है, वह बाहर भी उन्हें अच्छा रख सकता है। प्यार ही प्यार को उपजाता है। सबको पता है कि शक्कर डालने से चीज मीठी होती है। अब अगर नींव के रूप में ही इन बातों का प्रशिक्षण और अभ्यास घर-घर में होने लगे तो आदमी के चरित्र के मजबूत होने में कोई संदेह नहीं रहे।

अंत में, बचपन की आदतों से आगे के जीवन के संबंध को एक बार फिर इन शब्दों में दोहरा लिया जाए कि निर्माण के लिए ऊपर की ईंटों का नीचे की ईंटें ही आधार बनती हैं।

❋ नौकरी में निष्ठा ❋

अपनी नौकरी के प्रति वफादार होना सबसे बड़े ईमान की बातों में से एक है। कारण यह है कि उसीसे व्यक्ति को पेट पालने का स्थिर आधार मिलता है और उसीसे उसका सामाजिक महत्त्व निर्धारित होता है।

एक साहब महाविद्यालय में स्थायी व्याख्याता हैं और साथ में वहाँ के एक छात्रावास के अस्थायी वार्डन भी हैं। उनका वेतन उनके वार्डन होने के भत्ते से बीस गुने से भी अधिक है; लेकिन वे दिन-रात वार्डनी ही करते रहते हैं, व्याख्याता पद की मानो पेंशन खाते हैं। उनकी सारी वफादारी 'वार्डनी' पर केंद्रित है, क्योंकि उसकी कमाई 'ऊपरी आमदनी' है, जो छिन सकती है; जबकि व्याख्यातावाली आमदनी उनके लिए बँधी-बँधाई जागीर बन चुकी है।

यह 'ऊपरी आमदनी' विविध रूपों में आदमी को निष्ठाहीन और गैर जिम्मेदार ही नहीं, कृतघ्न और भ्रष्ट भी बनाती जा रही है। लोग कार्यालय के मुख्य समय में काम नहीं करते और ओवर टाइम के लिए रास्ता तैयार करते रहते हैं। उनकी मूल फाइलें पड़ी रहती हैं, जिन्हें निबटाना उनका प्रथम कर्तव्य होना चाहिए, क्योंकि उसी काम की उन्हें तनख्वाह मिलती है; पर वे ऊपरी पारिश्रमिक के कामों या अतिरिक्त धंधों में लिप्त रहते हैं। चपरासी लोग चपरासीगीरी ठीक से नहीं करेंगे, वे गाय-भैंस पालकर उसका दूध बेचने के काम को अपना पहला धर्म मान लेंगे। ऑफिस की अवधि में वे घास काटने के लिए चल देंगे। बड़े-बड़े प्रोफेसर खुद अपनी संख्या के विद्यार्थियों को नहीं पढ़ाएँगे, पर दुनिया भर से अपने संबंध जोड़ने और टी.ए.,डी.ए. के चक्कर में आएदिन बाहर की दौड़ लगाते रहेंगे।

एक कथन है कि मूल की अपेक्षा ब्याज और बेटे-बेटी की अपेक्षा पोता-नाती ज्यादा प्यारा होता है। लेकिन आदमी यह भूल जाता है कि यदि मूल ही न हो तो ब्याज कहाँ से आएगा और जब बेटा-बेटी ही न हो तो पोते-नाती का अस्तित्व कहाँ से होगा।

एक साहब अपनी बेटी के लिए वर ढूँढ़ते हुए यह कहते सुने गए कि अमुक लड़के की तनख्वाह तो कम है, पर चूँकि उसकी ऊपरी आमदनी अच्छी है, इसलिए लड़का अच्छा है। 'ऊपरी आमदनी' से उनका आशय 'गलत आमदनी' ही था; पर उसे वे गलत या खराब बिलकुल नहीं मान रहे थे। यह हुआ 'चोरी के माल' को इज्जत देना।

सही ओवर टाइम और अर्जित पारिश्रमिक गलत चीजें नहीं हैं; लेकिन ऊपरी आमदनी यदि किसी काम के लिए पूर्व निर्धारित समय में कोई दूसरा काम करके या मूल काम को सिर्फ ओवर टाइम में करके बढ़ाई जाती है, अथवा उसे रिश्वत

आदि के जरिए बढ़ाया जाता है तो वह नैतिकता और वैधानिकता दोनों दृष्टियों से वांछनीय नहीं कही जा सकती।

आदमी यदि अपनी नौकरी से संबंधित मूल काम निष्ठा के साथ नहीं करता है और किसी अन्य काम के प्रति वफादारी निभाता है तो उसमें अपना पेट पालनेवाले के प्रति भी अहसानमंद न होने का अवगुण पनपता रहेगा। उसे खुद अपनी चमड़ी को छोड़कर सारी दुनिया से शिकायत रहेगी; उसमें संतोष और उससे मिलनेवाले सुख की हमेशा कमी रहेगी।

अच्छे और बुरे कर्मचारी सभी जगह हुआ करते हैं। बुरे कर्मचारी 'बुरे' प्रायः इसलिए होते हैं कि वे काम कम करते हैं और अपनी नौकरी में दिन-रात अभाव देखते रहते हैं। इसके विपरीत, अच्छे कर्मचारी 'अच्छे' इसलिए होते हैं कि उन्हें वफादारी के साथ अपना काम पूरा करने से इतनी फुरसत ही नहीं मिलती कि वे अभावों को सोचने में अपना समय बरबाद करें। वरना अभाव कहाँ नहीं हैं और अपूर्णता किस व्यवस्था और किस मानव में नहीं है? अगर आदमी सिर्फ यह सोचकर नौकरी किया करे कि उसकी सौ में से सौ बातें जब भगवान् भी पूरी नहीं किया करते तब भला नौकरी में यह कैसे संभव होगा कि उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाएँ, तो उसे अपनी बहुत सी शिकायतें निर्मूल लगने लगेंगी। 'नौकरी' का अर्थ 'सेवा' है। 'सेवा' अपनी नहीं, दूसरों की होती है। जो लोग नौकरी करके सिर्फ अपनी सेवा चाहते हैं, वे उस नौकरी के लिए अयोग्य और कुपात्र होते हैं।

अपने बारे में औरों की राय

हम अपने बारे में 'खुद' क्या सोचते हैं और हमारे बारे में 'दूसरे लोग' क्या सोचते हैं—सफलता के लिए इन दोनों ही बातों पर ध्यान देना जरूरी है। पहली बात पर इसलिए कि आदमी के जैसे विचार होते हैं वह वैसा ही बन जाता है और दूसरी बात पर इसलिए कि आदमी स्वयं अपना मूल्यांकन ठीक से नहीं कर पाता। हम अपनी नजरों में चाहे कितने ही गुणी क्योंन हों, यदि दूसरे लोग हमें इस तथ्य का प्रमाणपत्र नहीं देते हैं तो हम जंगल में नाचनेवाले मोर के समान हो जाएँगे। दूसरों की अपने बारे में राय के महत्त्व के कारण ही कहा जाता है कि ईमानदार होना मात्र पर्याप्त नहीं है, ईमानदार दीखना भी जरूरी है।

जितना जरूरी दूसरों की अपने प्रति अच्छी राय का होना है उतना ही जरूरी यह जानना है कि वे 'दूसरे' किस स्तर के लोग हैं। आपको इस बात की बिलकुल परवाह नहीं करनी है कि आपके बारे में चोर-उचक्के क्या सोचते हैं। गांधीजी के बारे में दुनिया की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ और अन्य करोड़ों 'सामान्य' आदमी क्या सोचते थे, यह महत्त्वपूर्ण है, न कि यह कि गोडसे क्या सोचता था।

हर आदमी का एक सामाजिक दायरा होता है। वह उत्तरदायी भी सबके प्रति नहीं, वर्ग विशेष के प्रति ही होता है। अपने दायरे के बाहर के लोगों को और जिनके प्रति वह उत्तरदायी नहीं होता उन लोगों को संतुष्ट कर पाना उसके लिए कई बार और भी कठिन होता है। उन असंतुष्ट व्यक्तियों की राय में वह अयोग्य और उनकी गालियों का शिकार होता है। लेकिन ऐसी स्थिति में उसे हताश होने की जरूरत तब नहीं होनी चाहिए जब उसे ऐसे लोग अच्छा मानते हों, जिनकी उसके प्रति राय वस्तुतः मायने रखती है। विद्यार्थी के सही परिश्रम का मूल्यांकन करना किसी अपढ़-गँवार का नहीं, उसके अध्यापक और परीक्षक का काम होता है। यदि आप खराब आदमी की राय में खराब हैं, तब तो आपको खुश होना चाहिए।

आप अपने कर्तव्य के प्रति चाहे किसी भी सीमा तक निष्ठावान् रहिए और चाहे कितने ही घंटे नित्य परिश्रम कीजिए, लेकिन अपने बॉस और अन्य सहकर्मियों, अपने परिवार और संगी-साथियों तथा अपने शुभचिंतकों और सामान्य मिलने-जुलनेवालों की उपेक्षा कभी मत कीजिए; क्योंकि उन सबकी आपके प्रति राय ही आपके सामाजिक जीवन की दिशा निर्धारित करती है। अपने को अच्छा और ऊँचा तथा सफल बनाने और दिखाने के लिए असामाजिक होना बिलकुल जरूरी नहीं है। यदि आप दुनिया का बहिष्कार करेंगे तो दुनिया आपका बहिष्कार करेगी। चौबीसों घंटे अपने में ही लिप्त रहनेवालों को लोग 'पागल' और सिर्फ अपनी तारीफ करनेवालों को 'कूपमंडूक' कहते हैं।

यदि आप अपने बारे में उतना ही अच्छा सोचते हैं जितना आपके बारे में ज्यादातर लोग सोचते हैं, तब आपको भविष्य में अपने असफल होने का भय नहीं रहेगा; क्योंकि तब आपके कार्यों का मूल्यांकन सही होगा। इसके विपरीत, यदि आप अपने प्रति अन्यों की राय की बिलकुल भी परवाह न करते हुए सिर्फ अपनी राय को ढोते रहेंगे तो आपके विरोधियों की संख्या निरंतर बढ़ती चली जाएगी। इस प्रकार, सफलता का रास्ता चुनना स्वयं आपके हाथों में है।

❋ क्या चाहिए, दिखावा या असलियत? ❋

आदमी आज बाहर से कुछ तथा भीतर से कुछ और होता जा रहा है। यह स्थिति स्वयं के लिए कामचलाऊ भले ही हो, पर दूसरों के साथ धोखाधड़ी करने से कम नहीं है। 'यथा नाम तथा गुण' कहावतवाली बात मानो इतिहास के पन्नों में लुप्त हो चली है। कई बार 'असलियत' और 'दिखावे' में से 'दिखावे' की जीत हो जाती है। आलीशान विज्ञापनों से दो कौड़ी की चीज भी काफी

पैसोंवाली बन जाती है। दिखावे की असलियत खोलने के लिए इस सच्चाई को मजाक में कहा जाता है कि बस एक कार्यक्रम राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री का करवा लीजिए, संबंधित क्षेत्र की सारी सड़कें चकाचक हो जाएँगी। ऐसे किसी अवसर पर दिखावे के लिए खुशहाली और संपन्नता का ऐसा नक्शा खींचा जाता है कि बड़े राजनेताओं को असलियत की हवा ही नहीं लग पाती। बचपन की कहानियों में सभी ने पढ़ा होगा कि राजा अपनी प्रजा के सुख-दुःख को जानने के लिए वेश बदलकर जगह-जगह जाया करता था, लेकिन छोटे नेता आज के राजाओं की आँखों के आगे असलियत न खुलने देने में ही अपने अस्तित्व की रक्षा समझते हैं।

शादी-ब्याह के समय का दिखावा कितने ही परिवारों को बेहद भारी पड़ता है। कई बार आदमी की हैसियत कुछ और होती है और करना उसे कुछ और पड़ता है। लड़की को दिखाने के मामले में भी प्रायः उसके रूप-गुण के दिखावे की यही पद्धति अपनाई जाती है, जो कभी-कभी वास्तविकता से कोसों दूर होती है और तब जिसके कारण भविष्य में दंपती के जीवन में स्थायी दरारें पड़ जाती हैं।

सफाई और सजावट जरूरी है, पर दिखावे मात्र के लिए नहीं। आदमी अपने लिए ही नहाता है, दूसरों के लिए नहीं। लेकिन दूसरी ओर, यदि भीतर गंदगी भरी हुई है तो बाहरी सफाई और सजावट का लाभ स्थायी नहीं हो सकता।

साधारण स्तर के अनेक नेताओं द्वारा झूठे आश्वासनों का दिया जाना वैसा ही है जैसा किसी नकली माल बेचनेवाले द्वारा भजन गा-गाकर उपदेश देना। 'नेता' शब्द के अर्थ में ह्रस इसीलिए हुआ है कि बहुत से नेता अपने को दिखाते कुछ और हैं, जबकि उनकी असलियत कुछ और होती है। वरना कुछ वर्ष पहले तक 'नेता' सचमुच सही नेतृत्व करनेवाला हुआ करता था। 'नेताजी' शब्द कान में पड़ते ही आज भी सुभाषचंद्र बोस की मूर्ति आँखों के सामने सम्मान के साथ स्थापित हो जाती है। वे जो भीतर से थे, वही बाहर से थे। उनके लिए असलियत और दिखावे में कोई अंतर नहीं था।

अयोग्य होने पर विद्वान् होने का दिखावा करके, विपन्न होने पर संपन्नता का ढोंग दिखाकर, बुड्ढा होने पर जवान होने का छल-कपट करके और भ्रष्टाचारी होने पर ईमानदार होने का स्वाँग रचकर आदमी लंबी अवधि और स्थायित्व के पैमाने पर वस्तुतः स्वयं को ही धोखा देता है। बहुत मशहूर कहावत है कि आदमी कुछ लोगों को सब समय के लिए और सब लोगों को कुछ समय के लिए तो धोखा दे सकता है, पर सब लोगों को सब समय के लिए धोखा नहीं दे सकता। इस प्रकार हर दिखावे के पीछे छिपी असलियत एक-न-एक दिन सामने आकर पिछली सारी देनदारी को ब्याज सहित वसूल लेती है। दिखावों से दूर रहनेवाला व्यक्ति हमेशा असलियत के समीप रहने के कारण ऐसी देनदारियों से सदा मुक्त रहता है।

दूसरे का फोन और अपना अच्छापन

एक मोहल्ले के दस-बारह घरों के बीच सिर्फ एक व्यक्ति के यहाँ फोन है। संयोग से वे महोदय काफी शरीफ हैं। जिस किसीको जब कभी जरूरत पड़ती है, उनके फोन का प्रेमपूर्वक इस्तेमाल कर लेता है। ऑफिस गए हुए पति परमेश्वर से बात करनी है, गैस सिलिंडरवाले को फोन करना है, रेलवे इन्क्वायरी से गाड़ी आने का सही टाइम पूछना है—यहाँ तक तो बात ठीक है, अच्छे संबंधों में सब चलता है, पर तीन-चार पड़ोसियों ने हिंदुस्तान भर में फैले हुए अपने सारे रिश्तेदारों और मित्रों को उन महोदय का फोन नंबर दे रखा है।

दुःख-दर्द की बात हो तो सही है, पर गप्पें मारने के लिए जरा अमुक को बुला दीजिए! साहब या मैडम चले जा रहे हैं बुलाने के लिए। चलो, यह भी चलता है, क्योंकि बहुत दूर-दूर बसे हुए बाप-बेटे, माँ-बेटी, भाई-बहन, दोस्त-दोस्त आदि की परस्पर बात करवा देने का भी अपना सुख है। अच्छी सामाजिक दृष्टि से, जहाँ तक निभ सके, बिलकुल बुरा नहीं है। पर कष्ट की बात यह है कि समय-बेसमय, अपना काम छोड़कर अमुकजी को तत्काल बुलाने जाइए और बुलाए जानेवाले आगंतुक सज्जन फोन की बात निबट जाने के बाद भी प्रायः काफी देर तक रुके रहते हैं—फालतू बातें करने के लिए। 'उन्हें' शायद यह नहीं खलता होगा, क्योंकि वे 'एक' हैं; जबकि फोनवाले महोदय के लिए उन जैसे कई हो जाते हैं।

यहाँ हमें यह समझने की जरूरत है कि जब कहीं से हमारा फोन किसीके घर आता है और वह व्यक्ति हमें बुलाकर अपने घर ले जाता है तो हम यह न मानें कि वह हमें चाय-नाश्ते और लंबी बैठक के लिए निमंत्रित करने को आया है। वह हमें बार-बार बुलाकर हमारे लिए जितना कर देता है उतना ही बहुत है। सामाजिक आचार-व्यवहार कहता है कि हम उसका ज्यादा समय बरबाद न करें। वह हमारा खयाल रखने के नाम पर जितना अच्छा साबित हो रहा है, क्या उतना ही खयाल हम भी उसका रखते हुए उसके लिए अच्छे नहीं हो सकते?

अच्छा होने के लिए अच्छे के प्रति अच्छा होना बहुत जरूरी है।

❋ कर्म करनेवाला 'कर्महीन' नहीं ❋

अपने कर्मों को हमें खेती के समान समझना चाहिए। अच्छी फसल पाने के लिए बहुत सी चीजें जरूरी हैं—अच्छी जमीन, अच्छा बीज, अच्छी खाद, अच्छा पानी, अच्छा परिश्रम, अच्छी सुरक्षा इत्यादि। अच्छा कर्मफल पाने के लिए भी बहुत से तत्त्व जरूरी हैं—अच्छी आत्मा, अच्छा ज्ञान, अच्छा समाज, अच्छा व्यवहार, अच्छी लगन, अच्छी नीयत इत्यादि।

यों माना जाता है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है; पर कभी-कभी अच्छे-से-अच्छे कर्म करने के बाद भी अच्छा फल नहीं मिलता—खड़ी फसल अति वृष्टि आदि से नष्ट हो जाती है। ऐसे में आदमी को स्वयं से बड़ी किसी सत्ता को स्वीकार करके अपने अहंकार के विसर्जन की सीख मिलती है (वरना वह अपने को नियंता ही मान बैठेगा)।

कर्म और भाग्य के छोरों को मिलानेवाला सबसे महत्त्वपूर्ण वाक्य है—'कर्म करो और फल को भाग्य पर छोड़ दो।' इससे कभी संभावित निराशा नहीं होगी।

कर्म अनिवार्य है। आलसी बनकर 'दैव-दैव' पुकारनेवाले पुरुष पुरुषार्थहीन और कर्महीन कहे जाते हैं। कर्महीनों के विरुद्ध (और पुरुषार्थियों के पक्ष में) संत तुलसीदास ने लिखा है—'सकल पदारथ हैं जग माहीं, करमहीन नर पावत नाहीं।' सच है। पुरुषार्थी यदि ठान ले तो क्या नहीं पा सकता! निरंतर कर्मरत रहनेवाले व्यक्ति अपनी मंजिल पा ही लेते हैं। मदर टेरेसा ने क्या-क्या हासिल करके नहीं दिखा दिया। इसके विपरीत, जो केवल भाग्य की प्रतीक्षा करते हैं वे अपने दुर्भाग्य को ही रोते दीखते हैं। 'अमरवाणी' में पढ़ा था—'भाग्य के भरोसे बैठे रहने पर भाग्य सोया रहता है और हिम्मत बाँधकर खड़े होने पर भाग्य भी उठ खड़ा होता है।'

❋ दूसरों के समय की इज्जत करें ❋

एक साहब ने आजीवन अविवाहित रहने का निर्णय ले रखा है। वे अपने घर में अकेले रहते हैं। उनके पैर किसी बीवी-बच्चोंवाले के यहाँ रात को साढ़े नौ बजे के बाद भी जाने में नहीं ठिठकते। उस परिवार पर उनकी सरासर ज्यादती रहती है। परिवारवाले सज्जन उन साहब से यह कैसे कहें कि उन छड़े महोदय के पास बुद्धि नहीं है!

एक अन्य साहब का जब मन होता है, सुबह छह-साढ़े छह बजे ही हमारे घर आ धमकते हैं। वे अपने स्वास्थ्य-अभियान पर प्रातःकालीन भ्रमण के लिए

निकलते हैं और वापसी में जब-तब हमारे यहाँ आ लदते हैं। वे कहते हैं कि वे हमारे दोस्त हैं। हम उनसे कैसे कहें कि वे शिष्टाचार का मतलब नहीं जानते।

उदाहृत लोग इस बात को बिलकुल नहीं सोच पाते कि दूसरों को भी निजी जीवन जीने का पूरा अधिकार है। यद्यपि एक ओर हमारे समाज में 'अतिथि देवो भव' स्वीकार किया जाता है, पर दूसरी ओर 'बिन बुलाए मेहमान' को असम्मान की दृष्टि से भी देखा जाता है। इसलिए जब कभी आपको किसीके यहाँ बिना पूर्व सूचना के जाना हो तब ऐसे समय मत जाइए जब वह अनुमानतः नित्यकर्म, भोजन, विश्राम आदि से निवृत्त न हुआ हो। इस संबंध में यह मानकर चलें कि दूसरे लोग आपका स्वागत तभी करेंगे जब आप उनकी सुविधा के बारे में सोचकर उसमें व्यवधान नहीं डालेंगे। यदि आप सिर्फ अपनी सुविधा देखकर किसीके यहाँ बार-बार ठँसना शुरू कर देते हैं, तब इस बात की संभावना बन जाती है कि वह व्यक्ति कुछ बार भले ही आपको बरदाश्त कर ले, पर बाद में अपने घर के अंदर से कहलवाने लगेगा कि वह घर में नहीं है। यदि वह झूठ को बिलकुल पसंद नहीं करनेवाला हुआ तो यह भी कहलवा सकता है कि आप उसके यहाँ गलत समय पर मत पहुँचा कीजिए। ऐसी नौबत आने पर कई बार मधुर से मधुर संबंधों में भी गाँठ पड़ जाती है।

निष्कर्ष यह है कि यदि आपको दूसरों से अपनी इज्जत करवाते रहना है तो आप उनके समय की इज्जत करना न भूलें।

आगंतुक के प्रति व्यवहार

श्रीमान 'क' के घर जाकर आप जब-जब दरवाजे पर लगी घंटी बजाते हैं तब-तब भीतर से कोई व्यक्ति प्रायः बहुत जल्दी बाहर निकल आता है; जबकि श्रीमान 'ख' के यहाँ जाकर घंटी बजाने पर भीतर से किसीको निकलने में हमेशा काफी समय लग जाता है। केवल इतनी सी बात से आप निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रीमान 'क' सुसंस्कृत आदमी हैं, जबकि श्रीमान 'ख' कुल मिलाकर अच्छे आदमी नहीं हैं—'क' में दूसरों के बारे में भी सोच पाने की क्षमता है, जबकि 'ख' केवल अपने बारे में सोचना जानते हैं।

यदि 'क' घर के भीतर किसी जरूरी काम में व्यस्त होंगे, तब भी वे कुछ क्षणों के लिए बाहर आकर या किसीको भेजकर आगंतुक को वस्तुस्थिति से अवगत करा देंगे। वे उसे प्रतीक्षा करने के लिए सम्मानपूर्वक बैठा तो सकते ही हैं, उसे उस समय समय न दे पाने की स्थिति में उससे क्षमा भी माँग सकते हैं। इसके विपरीत, 'ख' महोदय आगंतुक के देर तक बाहर सूखते रहने की भी परवाह नहीं करते और यह भी नहीं सोच पाते कि वे उसका अपमान कर रहे हैं।

'क' अपने को 'समाज का अंग' मानते हुए यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि आगंतुक कौन है और क्यों आया होगा। 'ख' अपने स्वयंवादी होने का सबूत देते हुए यह सोचते हैं कि बाहर जो भी आया होगा, अपनी ही गरज से आया होगा।

अपने घर के भीतर काम सबको रहते हैं (आराम करना भी एक काम है); दूसरी ओर, यह भी सच है कि कभी-कभी घर की घंटी बेहद अनचाहे वक्त पर बज उठती है। पर हम इतनी सज्जनता तो दिखा ही सकते हैं कि दरवाजा खोलकर आगंतुक से सिर्फ एक मीठा बोल बोल दें। हम यह पक्का जान लें कि यदि हमारे घर का दरवाजा खुलने में हमेशा अनपेक्षित देरी होती है तो समाज में हमारी छवि नीची होती है—लोग हमें स्वार्थी, अहंकारी, घर-लिसा और न जाने क्या-क्या मानने लगते हैं। हो सकता है कि हममें से कोई रट्ठ इसका जवाब यह दे डाले कि भाड़ में जाएँ ऐसा माननेवाले, हमें किसीसे क्या लेना-देना। लेकिन इसके बदले हमें यह सुनने को मिल सकता है कि हमें भी समाज से कोई अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए और जंगल का रास्ता नाप लेना चाहिए।

हमारे परिचित एक साहब, बल्कि महासाहब, जब तक सेवारत रहे तब तक सबके साथ ऐसा ही रवैया अपनाते रहे, सेवानिवृत्त होने के बाद उनके यहाँ कोई कुत्ता भी मूतने नहीं जाता (अभद्र प्रयोग के लिए क्षमा करेंगे)।

अंतिम तिथि और अनुशासन

किसी भी तरह के आवेदन आदि की पहुँच के लिए 'अंतिम तिथि' क्यों दी जाती है? आप हँस सकते हैं कि यह भी कोई सवाल है, क्योंकि इसका जवाब हर आदमी जानता है। ठीक है। अंतिम तिथि इसलिए दी जाती है कि उसके बाद प्राप्त होनेवाले आवेदनों पर विचार नहीं किया जाएगा। इसी प्रकार यदि किसी प्रवेश या परीक्षा या नौकरी के लिए आवेदनकर्ता की उम्र दी गई तिथि तक निर्धारित किए गए वर्षों से अधिक नहीं होनी चाहिए तो उस तिथि तक उम्र एक दिन भी अधिक हो जाने से आवेदनकर्ता प्रवेश या परीक्षा या नौकरी के लिए अपात्र हो जाता है। यह भी ठीक है।

लेकिन कभी-कभी नासमझ लोग कुतर्क और जिद करने लगते हैं कि एक-दो दिनों से कोई फर्क नहीं पड़ता है। वे गलत ही नहीं, भयंकर रूप से गलत होते हैं; क्योंकि वे अपने स्वार्थ के लिए समूची व्यवस्था में छेद करनेवाले होते हैं।

ऐसे मामलों में नियम भंग करने की कोशिश करनेवालों के लिए शिथिलता बरतना उनकी सड़ी आदत को बढ़ावा देना और नियम से चलनेवालों के साथ अन्याय करना है। पक्षपात किसीके भी प्रति किया गया हो, वह पक्षपात करनेवाले की कमजोरी और ओछापन ही होता है। यदि, मान लिया, आपने

किसी एक को अंतिम तिथि के बाद दो दिनों की छूट दे दी, तो अंतिम तिथि उन दो दिनों के बाद की हो गई और दूसरे लोगों को उस तिथि के आगे के दो दिनों की छूट लेने का हक हो गया। यदि आप परीक्षाभवन में घुसने के लिए दस मिनट विलंब से आनेवाले परीक्षार्थी को अनुमति दे देते हैं तो बारह मिनट विलंब से आनेवाले को क्यों नहीं देंगे? यदि आप निर्धारित अधिकतम वर्षों से चार दिन अधिक उम्रवाले व्यक्ति का आवेदन स्वीकार कर लेते हैं तो पाँच दिन अधिक उम्रवाले का आवेदन स्वीकार क्यों नहीं करेंगे? यदि आप उसका भी आवेदन स्वीकार कर लेते हैं तो छह दिन अधिक उम्रवाले का आवेदन स्वीकार क्यों नहीं करेंगे? इस तरह छूट को बढ़ाने की सीमा के लिए कोई भी तर्क संगत नहीं हो सकता।

अंतिम तिथि और निर्धारित उम्र आदि से संबंधित शर्त पूरी न करनेवाला व्यक्ति चाहे कितने भी सही-गलत कारण बताए, गलती सिर्फ उसकी होती है। उसकी व्यक्तिगत गलती के कारण आप उससे बहुत ज्यादा बड़ी सामाजिक गलती मत कीजिए। ऐसी स्थिति में सख्ती बरतना ही एकमात्र सही रास्ता है, वरना नियम और अनुशासन का कोई अर्थ नहीं है।

❋ आदमी सिर्फ आदमी है ❋

बात दसों साल पहले की है। मेरी नानी पास के नगर से हमारे नगर, हमारे घर आई हुई थीं। उन्होंने कुछ पैसे देकर मुझे जलेबियाँ खरीदकर लाने के लिए बाजार भेजा। मेरे साथ मेरी छोटी बहन भी थी। हम सड़क पर पड़नेवाली पहली अच्छी हलवाई की दुकान से जलेबियाँ खरीदकर घर ले आए। वह दुकान मुसलमान की थी, जबकि हमारी नानी तरह-तरह के छुआछूत माननेवाली पुरातनपंथी हिंदू थीं।

नानी ने जलेबियाँ खूब प्रेम से खाईं और उनकी तारीफ भी की। उस दिन की बात खत्म।

अगले दिन छोटी बहन ने बातों-बातों में नानी को बता दिया कि हम जलेबियाँ एक मुसलमान हलवाई की दुकान से लाए थे। बस, फिर क्या था! नानी ने कोहराम मचा दिया। एक सौ एक बार कुल्ला किया। साथ ही उस दिन का उपवास किया और एक घंटा अतिरिक्त पूजा भी की।

जाहिर है कि यदि नानी को पता नहीं चलता कि जलेबियाँ कहाँ से खरीदी गई थीं, तब उनकी बुद्धि पूर्ववत् सही रहती। मतलब साफ है कि न तो जलेबियों में कोई खराबी थी और न हलवाई के मुसलमान होने में। जो कुछ था, नानी का अविवेक था।

हममें से अनेक लोग ऐसी न जाने कितनी फालतू बातों से बहककर सामाजिक प्रदूषण को बढ़ावा देते रहते हैं। कमाल की बात यह है कि वही नानी जब दो दिन बाद अपने नगर वापस गईं तब ट्रेन के भीड़ भरे डिब्बे में चढ़ते समय जगह पाने के लिए जाति-धर्म से संबंधित सारी छुआछूत भूल गईं। उनके एक ओर मुसलिम महिला बैठी और दूसरी ओर दलित वर्ग की महिला।

सच्चाई यह है कि आदमी प्राकृतिक रूप से सिर्फ आदमी है। वह रंग-रूप और आकार-प्रकार के हिसाब से चाहे कितने भी वर्गों में बाँटा जा सके, उसकी मूल संरचना उसे पशु-पक्षियों से भिन्न सिर्फ 'एक' सिद्ध करती है। हम किसी नवजात शिशु को देखकर केवल यह बता सकते हैं कि वह 'आदमी का' बच्चा है, यह नहीं बता सकते कि वह किस जाति और धर्म का बच्चा है। यदि हमें कोई न बताए तो यह बात उसके जीवनपर्यंत लागू रहेगी।

जब आदमी-आदमी के बीच जाति-धर्म का अंतर आरोपित अंतर है और इसके विपरीत मानवता सबके भीतर की मूल और स्थायी वस्तु है तो जाति-धर्म की तुलना में मानवता का स्थान अधिक ऊँचा माना जाना जरूरी है। यदि हमें किसी आदमी और उसकी चीजों से परहेज करना ही है तो उसके जाति-धर्म आदि को देखकर नहीं, उसके निजी ओछेपन और उसकी सड़ी-बुसी चीजों को देखकर करें।

❋ गैर जिम्मेदार लोग और आप ❋

राजेंद्र शनिवार को घर आए थे। कहकर गए कि सोमवार को आपकी सामग्री पहुँचा दूँगा। अपना फोन नंबर भी दे गए। जब बुधवार तक उनका कोई अता-पता नहीं रहा तो उनके नंबर पर फोन किया। उधर से आवाज आई कि वे हैं नहीं, जब आएँगे तब उन्हें बता देंगे। वे आपसे बात कर लेंगे। रात को उन्हें दूसरी बार फोन किया। जवाब मिला कि वे आकर चले गए, उन्हें बताना भूल गया कि आपका फोन आया था। अगली सुबह फिर फोन किया। उधर से सूचना मिली कि वे कभी-कभी ही यहाँ आते हैं। यह फोन नंबर उनका नहीं, हमारा है।

ट्रांसपोर्टवाले गांगुली साहब के कार्यालय मैं कुछ जरूरी बात करने के इरादे से गया। उनके असिस्टेंट ने कहा कि वे अभी तो कुछ घंटों के लिए बाहर गए हुए हैं, जैसे ही वापस आएँगे, उन्हें बता दूँगा कि आप आए थे। उसने काम पूछा। बता दिया। बोला, ठीक है, कल इसी समय आ जाइए। अगले दिन गया। असिस्टेंट ने देखकर कहा कि अरे, मैं उन्हें कल बताना भूल गया, अभी बता देता हूँ।

सुधीर बाजार में मिला। बोला, शाम को आपके यहाँ आऊँगा। कुछ खास काम था। इंतजार रहा। नहीं आया। फोन पर भी नहीं बताया कि वह नहीं आ पाएगा। अगली सुबह उसके यहाँ गया। उसने अपनी ओर से पिछली शाम न

आने की कोई चर्चा नहीं की। जब पूछा तो बताया कि हाँ, मुझे जिस काम से आना था, मैं पूरा नहीं कर पाया था।

एक परिचित के यहाँ का नौकर घर से कुछ छोटा-मोटा सामान बेचने के लिए ले गया था। बाद में वह जब-जब मिला तब-तब झुककर बोला कि आज शाम को हिसाब करने के लिए जरूर पहुँच जाऊँगा। उसके बारे में अन्यों से जिक्र करने पर पता चला कि वह उन पैसों को शराब आदि में फूँक चुका है।

इस प्रकार की बातें आपके साथ भी रोज घटित होती होंगी। लेकिन मन छोटा न करें। गलत आदमी हर युग में रहे हैं और हर युग में रहेंगे। यदि आप दूसरों से अपनी सुव्यवस्थित चाहतों के अनुरूप अपेक्षाएँ करेंगे तो अकसर दुःख पाएँगे। दूसरों के विश्वासघात तक को सहन करने की ताकत रखिए। आगे बढ़िए। जो खो गया उसे भुलाते चलिए। शायर के शब्दों में, जिंदगी का साथ निभाते चलिए। लोगों के निम्न स्तरीय व्यवहार पर अपना मानसिक संतुलन न खोइए। उनपर क्रोध करके अपनी हड्डियों को कमजोर न बनाइए। पोप ने कहा है, 'क्रोध करना दूसरों की गलती का अपने से प्रतिशोध लेना है।'

यदि आप अच्छे हैं तो अपने चारों ओर के लोगों के दायित्वहीन व्यवहार का प्रभाव स्वयं पर वैसे ही मत पड़ने दीजिए जैसे कमल अपने चारों ओर की कीचड़ का प्रभाव अपने ऊपर नहीं पड़ने देता।

संन्यास के बिना भी

अच्छा बनने की चाह तो बहुतों में होती है और उसके लिए कोशिश भी बहुत से लोग करते हैं, पर अधिक-से-अधिक लोगों के लिए अच्छा बनकर दिखानेवाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। इसका कारण यह है कि जो अच्छे-बुरे व्यक्ति हमारे अच्छा या बुरा होने का मूल्यांकन करते हैं, उनकी संख्या का भी कोई अंत नहीं है और अच्छाइयों तथा बुराइयों की भी कोई सीमा नहीं है।

अच्छा होने का संबंध मनुष्य के भीतर से भी है और बाहर से भी। बाहर की अपेक्षा भीतर से अच्छा होने का महत्त्व बहुत अधिक है; क्योंकि स्वयं को केवल बाहर से अच्छा दिखानेवाले व्यक्ति ढोंगी होते हैं। उनकी पोल आगे-पीछे जरूर खुल जाती है। दूसरी ओर, केवल भीतर से अच्छे आदमी देर-सबेर दूसरों की नजरों में अपनी अपेक्षित पहचान और इज्जत बना ही लेते हैं। यदि वे बाहर से भी अच्छे हुए, तब सोने में सुहागा है। उन अच्छों की सुगंध फैलते देर नहीं लगती।

उपर्युक्त उच्च अवस्था संत और संन्यासी बनकर प्राप्त करना अधिक सरल है, क्योंकि उनपर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ नहीं होतीं और उन्हें सामाजिक आवश्यकताओं और प्रतिद्वंद्विताओं का सामना कम करना पड़ता है। अन्य लोगों

को एक-दूसरे की इच्छाओं के पारस्परिक टकराव और बहु व्यापी ईर्ष्या के कारण अच्छा बनने और बना रहने के लिए विकट संघर्ष करना पड़ता है। संतों और संन्यासियों के निजी जीवन की तुलना में सामान्य आदमियों के जीवन में विरोधों और शत्रुताओं के अवसर अधिक आते हैं। ऐसी स्थिति में भी जो व्यक्ति नैतिक मूल्यों पर खरे उतरते हैं, वे वस्तुतः संतों और संन्यासियों से भी अधिक बड़े हैं और मानवमात्र के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय हैं। गांधीजी ने संसार की कर्मस्थली से बिना अलग हुए यह सिद्ध कर दिखाया कि आदमी सांसारिक गतिविधियों से विरत न रहकर भी अधिकाधिक लोगों के लिए अधिकाधिक अच्छा बन सकता है। यही बात गांधीजी के पदचिह्नों पर ईमानदारी से चलनेवालों पर लागू है। निष्कर्ष यह है कि अच्छा बनने के लिए संन्यास लेना जरूरी नहीं है, शादी न करना जरूरी नहीं है, चौबीसों घंटे भजन-प्रवचन करना-सुनना जरूरी नहीं है।

उधार लेने और देने से बचिए

प्रोफेसर साहब ने किसी-किसी दुकान पर लिखे हुए वाक्य 'उधार प्रेम की कैंची है' से भारी शिक्षा ली थी। वे अपने प्रेम संबंध किसीसे भी खराब नहीं करना चाहते थे, इसलिए वे न तो किसीसे रुपए उधार लेते थे और न किसीको उधार देते थे। दूसरी ओर, वे उधार माँगनेवाले छोटे-मोटे लोगों की थोड़े-बहुत रुपए-पैसों से मदद जरूर करते थे; लेकिन उनसे यह कहते हुए कि ये रुपए वापस नहीं लूँगा। इसका मुख्य कारण वे यह बताते थे कि ऐसा करने से उनके मन पर यह बोझ और तनाव बिलकुल नहीं रह जाता था कि वह व्यक्ति ऋणस्वरूप लिये गए रुपए अपनी दी हुई जबान के अनुसार समय पर या कभी वापस करेगा या नहीं।

हमें ऐसी स्थिति कई बार झेलनी पड़ती है कि हमने तो अपनी शराफत में किसी जरूरतमंद को उसकी मदद के नाम पर रुपए उधार तत्क्षण दे दिए कि वह बेचारा मुश्किल में है और दूसरे, उसने रुपए माँगते समय हमसे दुनिया भर की इनसानियत दिखाते हुए यह वचन भी भरा कि वह वे रुपए अमुक तिथि को जरूर वापस कर देगा (यहाँ ब्याज के धंधे और लिखत-पढ़त की बात बिलकुल नहीं है)। पर बाद में उन रुपयों का वापस मिलना 'दर्जनों बार टलती हुई अनिश्चितता' में बदलता चला गया। प्रोफेसर साहब कहा करते थे कि इस प्रकार वह झूठा और बेईमान ऋणी हमें बेवकूफ बनाने में सफल हो जाता है। वे ऐसे मामलों में अपना भारी सा अहसान ऋण माँगनेवाले पर पटककर शुरू में ही आगामी दुविधा से मुक्त हो जाते थे। और यदि उनसे कोई व्यक्ति यह पूछता कि वे रुपए देते क्यों हैं तो वे उत्तर देते—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं॥

प्रोफेसर साहब का दृष्टिकोण मानवतावादी था; पर एक बात वे यह भी कहते थे, जो रहीम ने नहीं कही थी, कि उधार लेकर वापस करने का वादा करके उसे न चुकानेवाले कृतघ्न आदमी से एक भिखारी बहुत ज्यादा ईमानदार होता है, क्योंकि वह विश्वासघात नहीं करता। केवल अपना स्वाभिमान खोता है।

निर्णय के पूर्व

महेश अपने भाई और पिता से जमीन-जायदाद संबंधी मुकदमा लड़ रहे थे, जिस सिलसिले में उन्हें अपने गाँव से अपनी बड़ी बहन के नगर कई बार जाना हुआ करता था। स्वाभाविक था कि वे बहन के यहाँ ठहर जाया करते थे। वहाँ वे जब-तब पिता के विरुद्ध विष उगलते रहते थे, जिसके प्रभाव से बहन पिता को इतना बुरा समझने लगी थी कि उसका मन उनके पास जाने का भी नहीं होता था। कुछ समय बाद जब एक बार उसका किसी विशेष अवसर पर गाँव जाना हुआ तो पिता ने उसे महेश के विरुद्ध बीसियों बातें बता डालीं, जिनका उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने महेश को आगे अपने घर पर ठहरने को क्या, आने तक को मना कर दिया।

यह सच्ची घटना सिर्फ यह सोचकर लिखी गई है कि किसी बात पर विश्वास केवल एक पक्ष को सुनकर करना उचित नहीं है—विशेषकर तब, जब बात में किसी व्यक्ति की बुराई-ही-बुराई हो। किसीकी लगातार और हमेशा सिर्फ बुराई करनेवाला व्यक्ति सामान्यतया 'उस किसी' के प्रति व्यक्तिगत विद्वेष से भरा हुआ होता है। जब दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आरोप पर आरोप लगाते जा रहे हों तब सच्चाई को खोज निकालना आसान नहीं होता। कचहरियों की जरूरत इसीलिए पड़ती है।

यदि आप किसी ऐसे मामले में दो पक्षों के बीच फँस जाएँ तो 'किसी एक की' अच्छी-से-अच्छी या बुरी-से-बुरी बात को भी सुनकर अपना निर्णय कभी न दें।

वैयक्तिक लाभ और सामाजिक लाभ

टी.वी. बिगड़ गया था। दुकानदार को फोन कर दिया। उसका आदमी घर आया और सुधारकर चला गया। पैसे लेकर रसीद दे गया। सब बढ़िया।

एक बार वॉशिंग मशीन बिगड़ गई। उसके दुकानदार को भी उसी प्रकार फोन किया। उसने मना करते हुए कहा कि शिकायत लेकर स्वयं दुकान तक पहुँचना जरूरी है। पहले समझ में नहीं आया कि क्यों, पर वहाँ पहुँचने पर पता चला कि निर्धारित न्यूनतम राशि (दुकान के मैकेनिक के पारिश्रमिक और आने-जाने के खर्च को मिलाकर) जमा करना जरूरी है। ठीक है। राशि जमा कर दी। पर वहाँ यह कहे बिना नहीं रहा गया कि यह तो हम घर पर भी दे देते। इसपर वे बोले कि हम धोखा खा चुके हैं। एक संभ्रांत माने जानेवाले सज्जन ने घर बुलाया था। उनके यहाँ का काम करने के बाद जब हमने बिल दिया तो वे बिगड़ने-झगड़ने लगे कि इतने जरा से काम के लिए इतने रुपए नहीं देंगे। तब से हमने नियम बना लिया कि बिना अग्रिम राशि जमा कराए किसीके भी यहाँ नहीं जाएँगे।

आशय स्पष्ट है कि करे एक, भरें सब। समाज के कुछ अविवेकी और बदनीयत लोगों के कारण दूसरों को बिना बात के परेशानी उठानी पड़ती है; एक के अविश्वसनीय व्यवहार के कारण अन्यों पर भी विश्वास करने में दुविधा होने लगती है। उपर्युक्त प्रकरण में दुकानदार को दोष देना फिजूल है, क्योंकि वह पहले से यह कभी नहीं जान पाएगा कि किस क्रेता का व्यवहार काम निकल जाने के बाद कैसा रहेगा। जो क्रेता गलत व्यवहार करता है, वह भविष्य के लिए दुकानदार विशेष से अपने ही संबंधों को बिगाड़नेवाला नहीं, दूसरों के लिए भी सामाजिक विद्रूपताएँ सामने खड़ी करनेवाला अपराधी बन जाता है। वह केवल अपने छोटे लाभ के बारे में सोचता है, बड़े लाभ के बारे में नहीं सोच पाता। (यदि उन संभ्रांत क्रेता महोदय को मशीन की सुधरवाई महँगी ही लगती थी तो उन्हें मैकेनिक को अपने घर बुलाने के पहले दुकानदार से फोन पर ही रेट आदि की बात स्पष्ट कर लेनी चाहिए थी।)

सदा याद रखी जानेवाली बात है कि थोड़े से पैसों की 'अस्वीकृत बचत' के वैयक्तिक लाभ की तुलना में अच्छे संबंधों के स्थायी सामाजिक लाभ का महत्त्व बहुत अधिक है।

व्यर्थ के झगड़े का इलाज

एक मोहल्ले की एक सड़क के बीच में एक कम पढ़ी-लिखी निम्न वर्गीय औरत एक साइकिल सवार को रोककर डाँट रही थी कि यदि तुम्हारी साइकिल से मेरे टक्कर लग जाती तो मेरे चोट लग जाती। साइकिलवाला जवाब दे रहा था कि न तो तुम्हारे चोट लगी है और न मेरी साइकिल ने तुम्हें छुआ ही है। मैं तो एक फुट की दूरी से साइकिल निकाल रहा था। औरत बिगड़कर कहने लगी कि नहीं, तुम्हें साइकिल को और ज्यादा दूरी से निकालना था, तुम्हारी गलती से मेरे चोट लग सकती थी। अगर लग जाती तो? औरत के तेवर देखकर लग रहा

था कि वह साइकिलवाले को वहाँ से जल्दी नहीं जाने देगी और उसे खरी-खोटी सुनाती ही रहेगी।

साइकिलवाला जानता था कि साइकिल चलाने में उसने लेश मात्र भी गलती नहीं की थी, उलटे उसने औरत को सड़क के बीचोबीच चलते देखकर उससे बचने में विशेष सावधानी बरती थी। फिर भी उसने तत्काल गलती मान ली और बोला, 'माँजी! मुझे एक बार माफ कर दो बस। आगे से ऐसी गलती कभी नहीं करूँगा।' औरत ने अपनी जीत की खुशी में साइकिलवाले को मुक्त कर दिया।

जिंदगी में जाने कितने ऐसे अवसर आते हैं, जब हम दूसरे की नासमझी या गलती के कारण परेशानी में फँस जाते हैं। उपर्युक्त प्रकरण में यदि साइकिलवाला बहस को बढ़ाता रहता तो बात बिगड़ती चली जाती। उसका माफी माँगकर बखेड़े को जल्दी से निबटा डालने का कदम बहुत समझदारी का था। ऐसा करने से उसकी जेब से कुछ नहीं गया और उसने एक नासमझ के क्रोध को जीत लिया। यदि वह अपनी सफाई दे-देकर औरत के क्रोध को बढ़ाता जाता और अपने अहम् के नाम पर स्वयं भी अधिकाधिक क्रुद्ध होता जाता तो अपना ही नुकसान करता।

निष्कर्षतः किसी व्यर्थ के झगड़े का इलाज स्वयं को गलत न सिद्ध करने के लिए झगड़ा बढ़ाना नहीं है, उसका इलाज झगड़ा करनेवाले के हाथ जोड़ लेना है।

अनपेक्षित जल्दबाजी

एक साहब के मकान के बाथरूम और लैटरीन के दरवाजे न तो ठीक से खुले रहते हैं और न ठीक से बंद रहते हैं। कारण है उनके घर के लोगों में वहाँ से बाहर निकल भागने की बिना बात की जल्दबाजी और सलीके का अभाव।

अमुक लड़का फेल हो गया, क्योंकि उसने परीक्षा में उत्तर पुस्तिकाओं पर इतनी जल्दी-जल्दी घसीट मारी कि परीक्षक कुछ भी नहीं पढ़ पाए कि उसने क्या लिखा है।

चाचा ऑफिस गए थे, बच्चे स्कूल। चाची पड़ोसिन के साथ मंदिर जाने के लिए निकलीं। जल्दी में गेट के ताले की चाबी ऐसी घुमाई कि ताला खुला रह गया। भगवान् ने उनकी तो नहीं सुनी, चोर की सुन ली।

भतीजा कभी-कभी वाश-बेसिन के नल की टोंटी ऐसे बंद करके चल देता है कि वह आधी खुली रह जाती है। छत की भरी हुई टंकी धीरे-धीरे यों ही साफ!

जूठे बरतनों की सफाई करने के लिए सही साबुन को इस्तेमाल करना अच्छी बात है। लेकिन यदि साबुन लगाने के बाद बरतनों को धोते समय धोनेवाले के

द्वारा ऐसी फुरती दिखाई जाए कि आधा-चौथाई साबुन बरतनों पर ही चिपका रह गया हो तो? तो खाने के साथ साबुन को भी पेट में चढ़ाइए!

एक भाईजी का भोजन ठीक से नहीं पच पाता है। काफी परेशान रहते हैं। बात सिर्फ यह है कि वे सबकुछ भड़भड़-भड़भड़ खा डालते हैं, बिना चबाए।

आपका इस कमरे से उस कमरे में जाते हुए जल्दबाजी में पंखा या बिजली खुली छोड़ जाना तो बहुत आम बात है, पर अगर आप कुकिंग गैस को खुला छोड़कर चल दें, तब!

अब इसे लापरवाही कहिए या भूल या जल्दबाजी कि शौच के बाद वहाँ पानी कम डालकर यदि आप बाहर निकल जाते हैं तो क्या होता है? समझे या नहीं!

तसल्ली से काम कीजिए, यह हड़बड़ी क्यों? कहावत है कि 'जल्दी का काम शैतान का' होता है। आपकी अनचाही जल्दबाजी के कारण कई बार आपको तथा दूसरों को असुविधा और नुकसान झेलना पड़ जाता है, व्यर्थ ही।

❋ खराब दुनियादार और अच्छे आप ❋

आप लंबे समय से अमुक दुग्ध वितरक के यहाँ के ग्राहक हैं, एकदम नियमित। उसका आदमी आपके दुग्ध पैकेट आपके घर पहुँचाया करता है। आप उसका भुगतान सदैव सही समय पर कर देते हैं। उसे आपसे रत्ती भर भी शिकायत नहीं है।

यों तो पैकेट आपके घर सामान्य तौर से प्रतिदिन पहुँचवा दिए जाते हैं, पर जब दूध-दही से संबंधित कोई खास त्योहार होता है और दूध को लोग थोड़े-बहुत ब्लैक में भी खरीदने के लिए तैयार रहते हैं, तब आपका वितरक आपके यहाँ दूध न पहुँचवाकर आपके हिस्से के पैकेट दूसरों को बेच देता है। यदि आप सावधान रहकर समय रहते कहीं और से दूध का इंतजाम नहीं कर लेते हैं तो आपका त्योहार बिना दूध-दही के रह जाता है। इसके विपरीत, वितरक उस दिन ब्लैकवाले कुछ अतिरिक्त पैसे कमा लेता है।

आप वितरक को क्या कहेंगे?

आपके एक बहुत सगे नेता हैं। अच्छे दोस्त। बहुत सक्षम। कितने ही लोगों को नौकरी दिलवाते रहते हैं। अयोग्य लोगों को भी। आपने यह सोचकर कि आप अपने दायरे के उनके कई काम करवा चुके हैं, अपने एक बहुत अजीज, बहुत योग्य लेकिन बेकारी के मारे रिश्तेदार को उनके पास मदद के लिए भेजा। उन्होंने तरह-तरह से अपनी असमर्थता और कुछ सिद्धांत जताते हुए उसे खाली हाथ लौटा दिया। कारण वस्तुतः यह था कि उन्हें दूसरों को नौकरी दिलवाने में

मेज के नीचेवाली आमदनी होती है, जबकि आपके रिश्तेदार का काम करवाने में उन्हें कोई रकम नहीं मिलती।

उन्हें आप क्या कहेंगे?

यह सही है कि वैसे लोगों के द्वारा स्वार्थ और लोभ के वशीभूत होकर एक प्रकार की कृतघ्नता दिखाते हुए आपके अधिकार का हनन किया जाना ठीक नहीं है, लेकिन तारीफ की बात तब है जब आप ऐसे खराब आदमियों के बीच रहकर भी अपना काम विवेकपूर्वक निकाल लें। यदि पुराना रास्ता गड़बड़ है तो उसे गालियाँ देकर अपनी जीभ और दिमाग खराब करने के बजाय कोई नया रास्ता अपना लें। दुनिया बहुत बड़ी है।

बचे पैसे वापस करें

उस व्यक्ति ने अपनी साइकिल साइकिल स्टैंड पर रखी, जिसका किराया एक रुपया देने के लिए उसने स्टैंडवाले को दो रुपए का नोट दिया। स्टैंडवाले ने पचहत्तर पैसे वापस करते हुए कह दिया कि बाकी चिल्लर उसके पास नहीं है।

व्यक्ति ने मेडिकल स्टोर से कुछ दवाएँ खरीदीं। बिल सवा चौवालीस रुपए का था। उसने दुकानदार को पचास का नोट दिया। दुकानदार ने बस पाँच का नोट वापस करके छुट्टी पा ली।

व्यक्ति ने 'खिड़की मैन' से रायपुर से बिलासपुर तक का पैसेंजर ट्रेन का किराया पूछ लिया। खिड़की मैन सुनते ही नाराज हो गया, क्योंकि टिकट उन्नीस रुपए का था, जबकि वह प्रत्येक ऐसे यात्री को एक रुपया वापस नहीं कर रहा था, जो उसे बीस रुपए देते थे।

व्यक्ति ने रसोई गैस के सिलिंडर के लिए एजेंसीवाले को एक सौ पैंतीस रुपए दिए। कीमत एक सौ चौंतीस रुपए दस पैसे थी। गैसवाले ने शेष पैसों की वापसी के बारे में कोई शब्द नहीं कहा।

उपर्युक्त उदाहरण देने का मतलब बिलकुल साफ है। आज ग्राहक इस मामले में विक्रेताओं के हाथों हर तरफ मुँड़ रहा है। कारण चिल्लर की कमी कम है, विक्रेताओं की नीयत में खराबी ज्यादा है। उनमें एक भी ऐसा लाल (माई का) नहीं दीखता, जो ग्राहक से, उदाहरण के लिए, साढ़े चौदह रुपए का बिल होने पर पंद्रह न लेकर चौदह ले ले (जबकि पचास पैसों का अंतर दोनों ओर बराबर है)। इस सिलसिले में यह तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि आपको, उदाहरण के लिए, बीस रुपए का रेलवे टिकट उन्नीस रुपए का कोई नहीं देगा; बल्कि यदि आपके पास दस पैसे भी कम हुए तो आप प्लेटफॉर्म टिकट नहीं खरीद सकेंगे।

इसमें कोई शक नहीं है कि कभी-कभी चिल्लर उपलब्ध नहीं रहती है; पर अगर वह उपलब्ध रहती है और फिर भी हम 'ज्यादा समझदार' बन जाते हैं तब हमारा चरित्र अच्छा नहीं कहा जा सकता। मजबूरी और चालूपन में बहुत फर्क है। यदि हम दूसरों के बचे हुए पैसे जानबूझकर उन्हें वापस नहीं करते तो देर-सबेर हमें अपने चेहरे पर 'बेईमान' लिखा हुआ जरूर दिखाई देने लगेगा।

आदमी का भीतर से अच्छा होना

जो आदमी भीतर से जितना ज्यादा अच्छा और बड़ा होता है वह अपने लिए उतनी ही शान-शौकत की जरूरत नहीं समझता। उसे अपनी अच्छाई और बड़प्पन का सबूत शाही भोजन, बेशकीमती कपड़ों और आलीशान मकान आदि से नहीं देना पड़ता। वह आंतरिक गुणों के कारण ही अपना अभीष्ट पा लेता है, जो निश्चित रूप से महामानवों का अनुसरण करते हुए यथाशक्ति अधिकाधिक जनहित-संपादन करना होता है। इस सिलसिले में बुद्ध, महावीर, कबीर, गांधी आदि से सीख ली जानी चाहिए, जिनकी खान-पान और रहन-सहन से संबंधित बाहरी जरूरतें नगण्य थीं। ये महापुरुष करोड़ों लोगों की श्रद्धा के आगार बने; जबकि अपार संपत्ति और वैभव के मालिक राजनेता आदि करोड़ों लोगों की घृणा के शिकार बनते जा रहे हैं।

आदमी जब अंदर से अच्छा नहीं होता तब वह उस कमी को बाहर की टीम-टाम से पूरा करने की जरूरत महसूस करता है। हर आदमी इज्जत का भूखा होता है। यदि उसमें एक रास्ते से इज्जत पाने की काबिलियत नहीं होती तो वह उसके लिए दूसरे रास्ते पर दौड़ता है। जब उसके पास नैतिक और सामाजिक उपलब्धियाँ नहीं होतीं तो वह केवल भौतिक और स्वार्थ सीमित उपलब्धियों के पीछे भागता रहता है।

यह बिलकुल जरूरी नहीं है कि समाज में सब लोग संत-महात्मा बन जाएँ; जरूरत समाज के अन्य मूल्यों के पालन की भी है। 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' के अनुसार 'मानव धर्म' के बाद 'अर्थ' का ही महत्त्व है। लेकिन अर्थ का उपयोग तभी तक सही है जब तक वह व्यक्ति विशेष को इंद्र देवता या महालक्ष्मी बनाने के लिए न होकर सारे समाज के हित के लिए हो। हर आदमी का हक है कि उसकी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी होने के साथ उसे अच्छा खाना, अच्छा पहनावा और अच्छा आवास मिले। इस 'अच्छे' की एक सीमा है, जिसके आगे बढ़ने पर आदमी लोभी भी हो सकता है, ईर्ष्यालु भी हो सकता है, हीनग्रंथि से युक्त होकर दिखावेबाज भी हो सकता है और भ्रष्ट, शोषक तथा हिंसक भी हो सकता है। ऐसे आदमी की लिप्सा और हवस मरते समय तक पूरी नहीं हो पाती; यद्यपि वह यह बात भलीभाँति जानता है कि उसके साथ दूसरी दुनिया में इसके

अलावा कुछ नहीं जाएगा कि वह अच्छा आदमी था या बुरा। उसकी आँखें बहुत देर में, उसके बिलकुल अंतिम समय में, खुलती हैं; लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। यदि हम आँखें समय रहते ही खोल लें तो हम सर्वोच्च योनि 'मनुष्य योनि' में जन्म पाने से संबंधित सभी ऋणों से उऋण हो जाएँ और हमारे लिए मोक्ष एवं अमरत्व दोनों का मार्ग प्रशस्त हो जाए।

बड़ों का निम्न स्तरीय व्यवहार

एक अध्यापक हैं, जिनकी तेरह वर्ष पूर्व एम.ए. में प्रथम श्रेणी केवल तीन अंकों से रह गई थी। वे उत्तर पुस्तिकाएँ जाँचने में किसीको भी प्रथम श्रेणी के अंक नहीं देते हैं, चाहे परीक्षार्थी ने कितने भी उच्च स्तर के उत्तर लिखे हों। अन्य सब प्रश्नपत्रों में धुआँधार अंक पानेवाले छात्र भी उनके द्वारा जाँचे गए प्रश्नपत्र में मार खा जाने के कारण अधिक ऊँचा प्रतिशत नहीं प्राप्त कर पाते। जानकार छात्र उनके प्रति अनादर भाव के साथ मनाते रहते हैं कि उनकी कॉपियाँ उनके पास जँचने के लिए कभी न जाएँ।

अध्यापक महोदय अपने पूर्वाघात से आज तक नहीं उबर पाए हैं और न जाने कितने निरपराध योग्य छात्रों से प्रतिशोध ले रहे हैं। यदि उनसे कोई कहता है कि वे अच्छे छात्रों के साथ अन्याय करते हैं तो उनका रटा-रटाया फालतू जवाब होता है कि मैं उन छात्रों से बहुत ज्यादा अच्छा लिख सकता हूँ। इसे सुनकर जब श्रोता उनसे कहता है कि आप तो अनुभव और योग्यता की दृष्टि से इन छात्रों से दशाधिक वर्ष आगे बढ़ चुके हैं तो वे दूसरा फालतू जवाब देते हैं कि यदि मुझे कोई आज शत-प्रतिशत अंक दे भी दे तो वे मेरे किस काम के होंगे। मैं अपना पुराना नुकसान कभी नहीं भूलूँगा। ठीक है भाई, मत भूलो। पर अपने 'चाचा' से हुए मतभेद की सजा अपने 'बच्चों' को तो न दो।

किसीकी यह मनोवृत्ति कि यदि मेरा नुकसान हुआ है तो मैं अपने हाथ से किसीका भी फायदा नहीं होने दूँगा, एक मानसिक रोग है। ऐसा व्यक्ति जड़ हो जाता है। उसकी बुद्धि सीमित और हृदय संकुचित हो जाता है। उसमें न तो सही तर्क रह जाते हैं और न आवश्यक संवेदनाएँ। एक शब्द में वह 'मानव' नहीं रह जाता। हमारा मानवत्व इस बात में है कि हम विपरीत परिस्थिति में भी मानवोचित व्यवहार न छोड़ें; वरना हममें 'अच्छा बनने की चाह' के होने का कोई मतलब नहीं है। अच्छा वही बन सकता है, जो दूसरों का भला जरूर सोचे।

एक और अध्यापक की बात सुनें। महोदय एक विश्वविद्यालय में उच्च पद पर पदस्थ हैं। एक शोधछात्र के शोधप्रबंध के परीक्षक नियुक्त हुए। चार स्मरणपत्रों के बाद साल भर में रिपोर्ट भेजी। संयोग से मौखिक परीक्षा हेतु भी बुलाए गए। नखरों पर नखरे कि अभी बहुत व्यस्त हूँ। तीन माह, छह माह, नौ

माह। मना भी नहीं करते कि परीक्षक बदल दिया जाए। प्रबुद्ध कहलाकर भी मानवोचित व्यवहार से दूर। उनमें शायद यह सोचने का माद्दा ही नहीं है कि शोधछात्र भी एक आदमी है, जिसके सामने भविष्य की ओर उन्मुख आकांक्षाएँ हैं और जिसके लिए उसकी शोध उपाधि का महत्त्व परीक्षक महोदय की 'महान् व्यस्तता' के लिए 'महान् ढोंग' से सौ गुना कीमती है।

पहले छोटों का दायित्व स्वीकार कर लेना और फिर उसे महत्त्व न देकर लटकाते जाना बड़ों को शोभा नहीं देता। उन्हें छोटों को तंग करने और उनके भाग्य से खेलने का कोई नैतिक और वैधानिक अधिकार नहीं है। उनका बड़प्पन इस बात में है कि वे छोटों से कैसा व्यवहार करते हैं। सिर्फ अपना और अपने बड़ों का ध्यान रखनेवाले तो बिना ढूँढ़े हर तरफ मिल जाते हैं।

❋ कम बोलना बहुत बड़ा गुण है ❋

जो आदमी आवश्यकता से अधिक बोलता है, उसके भीतर कोई कमी जरूर होती है। या तो वह 'अधजल गगरी छलकत जाय' के अनुसार अपने अधूरे ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए बेचैन और उतावला रहता है या इस अहंकार और भ्रांति से ग्रस्त रहता है कि वह अपने श्रोताओं की तुलना में बहुत ज्यादा अक्लमंद है।

जरूरत से ज्यादा बोलनेवाले आदमी की जबान कई बार उसके दिमाग से आगे चलकर उसकी बातों का संतुलन बिगाड़ देती है। वाणी पर संयम न रहने के कारण उसके मुँह से बहुत से व्यर्थ के शब्द भी निकल जाते हैं, जिनका श्रोता पर अच्छा असर नहीं पड़ता।

चूँकि मुँह से निकला हुआ एक भी शब्द वापस नहीं होता, इसलिए बोलनेवाला यदि बिना सोचे-समझे कुछ भी न बोले, तभी उसका कल्याण संभव है। 'बिना बिचारे जो करै सो पाछे पछताय, काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय' वाली बात 'बिना बिचारे जो कहै...पर भी उसी प्रकार लागू होती है। जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में हड़बड़ी करने से काम बिगड़ने की आशंका रहती है उसी प्रकार बोलने में भी हड़बड़ी करने से कथन और संदेश अव्यवस्थित हो जाता है, जिसका परिणाम अपेक्षा के अनुरूप नहीं निकलता।

यदि आप अपनी कोई भी बात समय की निर्धारित सीमा में पूरी कर लेते हैं तो आप बुद्धिमान हैं। जो लोग एक मिनट की बात के बदले पाँच-दस मिनट तक बोलते जाते हैं, वे शायद अपने समय को छोड़कर सबका समय बरबाद करते हैं। दूसरी ओर, जो लोग अपने सामनेवाले की उस एक मिनट की भी बात को सुनने का धैर्य न रखते हुए उसकी बात को बीच में ही काटकर जबरदस्ती बोलने लगते हैं, वे और भी अधिक स्वयंलिप्त और असामाजिक होते हैं।

बड़बोला होने के समान वाचाल होना भी गुणों की श्रेणी में नहीं आता। जिस प्रकार कम खाने से अपच नहीं होता उसी प्रकार कम बोलने से अरुचि नहीं होती। गुणों की श्रेणी में आता है—'कम बोलना' या 'मितभाषी होना'। 'मितभाषिता' को महान् लोगों का स्वभाव माना गया है—'महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः' (महान् पुरुष प्रकृति से मितभाषी होते हैं)। लेकिन 'मितभाषी' होने का मतलब यह नहीं है कि आप महान् पुरुष बनने के लिए, उदाहरणार्थ, छात्रों को पढ़ाते समय भी बहुत कम बोलें और अपना पौन घंटे का क्लास बीस मिनट में ही छोड़ दें! जीवन में प्रतिदिन न जाने कितनी स्थितियाँ ऐसी रहती हैं, जब काफी मात्रा में बोलना अनिवार्य रहता है। लेकिन सवाल 'काफी मात्रा' का नहीं, जरूरत के हिसाब से 'सही मात्रा' में बोलने का है—इतना बोलने का है कि सुननेवाले लोग उसे 'बोलने की बीमारी' न कहें। कुछ लोग जब माइक पर बोलना शुरू करते हैं तो उनके लिए सारी घड़ियाँ बंद हो जाती हैं; जबकि दूसरी ओर धैर्य की वाजिब सीमा के बाद सारे श्रोता शवासन की चाह करने लगते हैं!

कम बोलने की चरम स्थिति मौनव्रत धारण करना है। कहा गया है कि एक चुप सौ बोलतों को हराता है। आवश्यकतानुसार मौन धारण करके या बहुत कम बोलकर आदमी अपनी वाणी पर नियंत्रण पा लेता है, कितने ही विवादों से बच जाता है, बहुत सी ऊर्जा बचा लेता है और विचार-मंथन तथा अन्य कार्यों के लिए अपने समय को सुरक्षित कर लेता है।

❋ शॉर्ट-कट : अच्छा या बुरा ❋

शॉर्ट-कट लेने का व्यापक अर्थ है किसी भी तरह की बचत का मार्ग अपनाना। शॉर्ट-कट लेना अच्छी बात है, बशर्ते उससे हमारी कार्यकुशलता आदि पर बुरा प्रभाव न पड़े। सही शॉर्ट-कट से हमारा समय, ऊर्जा, पैसा आदि सबकुछ बचता है और साथ में कार्यक्षम होने का प्रमाणपत्र भी मिलता है।

शॉर्ट-कट के बारे में कुछ नए प्रकार का एक उदाहरण देखिए। यदि आप अपनी बात कम शब्द खर्च करके उतने ही प्रभावशाली ढंग से पेश कर सकते हैं जितने के लिए अन्य लोग अपेक्षाकृत अधिक शब्द खर्च करते हैं तो आपको भाषा-प्रयोग के मामले में अच्छा शॉर्ट-कट अपनानेवाला माना जाएगा।

शॉर्ट-कट यदि गलत ढंग से लिया गया तो आप नुकसान के शिकार हो सकते हैं, जिसके उदाहरणों की भरमार है। यहाँ केवल सात-आठ दैनंदिन उदाहरणों से उपर्युक्त कथन की पुष्टि की जा रही है।

थोड़ा समय बचाने की जल्दी में श्रीमानजी ने दवा की शीशी का ढक्कन अधूरा ही बंद किया। बाद में जब किसी अन्य व्यक्ति ने शीशी को ऊपर से पकड़कर

उठाने की कोशिश की तो ढक्कन हाथ में रह गया और शीशी जमीन पर गिरकर 'चटाक' हो गई।

श्रीमतीजी बरसात के तुरंत बाद अपनी एक सहेली के यहाँ पक्की सड़क छोड़कर छोटे रास्तेवाली कच्ची पगडंडी से चल दीं। सोचा कि समय भी कम लगेगा और मेहनत भी कम लगेगी। लेकिन कीचड़ भरे गड्ढों से बचते-बचाते उन्हें समय तो उसकी अपेक्षा अधिक लगा ही जितना पक्की सड़क से जाने में लगता, ऊपर से कपड़े अलग से छीप गए।

यदि मुंशीजी अपना चश्मा उतारकर मेज के बिलकुल किनारे पर न रखकर आधा फुट हाथ बढ़ाकर थोड़ा बीच में रख देते तो वह धोखे से किसीका हाथ लग जाने से नीचे गिरकर टूट न जाता।

यदि व्यापारी स्टेशन से रात में रिक्शा से कम फासलेवाली, किंतु अकेली-अँधेरी सड़क से अपने घर न जाकर लंबे, लेकिन भीड़वाले प्रकाशयुक्त मुख्य मार्ग से जाता तो कुछ अतिरिक्त समय और पैसे जरूर लगते, पर रास्ते में उसका सामान न लुटता।

छात्र की साइकिल में पंक्चर सिर्फ इसलिए हो गया कि वह कॉलेज सही सड़क से न जाकर छोटे ऊबड़-खाबड़ रास्ते से रेस लगा रहा था।

ग्राहक महोदय कुछ खरीदारी करने के लिए बाजार गए और उन्होंने अपनी कार दुकान के पास ही खड़ी कर दी कि झट से अपना काम निबटा लेंगे। शॉर्ट-कट। यदि वे उसे केवल तीस मीटर आगे उसके लिए नियत पार्किंग स्थान पर खड़ा करते तो चालान न होता।

श्रीमती दुबे सस्ता सामान खरीदने के चक्कर में एक बार 'काफी ऊँची समझदारी' दिखा चुकी हैं! उनके मकान पर पहुँचनेवाला एक विक्रेता उन्हें जमकर चूना लगा गया। उनका घर बैठे साड़ी आदि खरीदने का शॉर्ट-कट उन्हें खासा भारी पड़ गया।

इन बातों का निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी भी शॉर्ट-कट को अपनाने के पहले दूरदर्शिता का इस्तेमाल किया जाना बहुत जरूरी है, वरना लेने के देने पड़ सकते हैं।

❋ आदमी का बुरा और अच्छा होना ❋

एक महोदय को शराब की लत ऐसी लगी कि छुड़ाए नहीं छूट रही थी। पत्नी भी परेशान, बच्चे भी परेशान। घर का पैसा अलग बरबाद। बड़ी बेटी ने माँ के साथ मिलकर एक योजना बनाई। एक रात वह देर तक सहेली के यहाँ रुक गई।

नशे में धुत्त पिता ने जब माँ से पूछा कि वह कहाँ है तब माँ ने चिंता दिखाते हुए कह दिया कि पता नहीं कहाँ चली गई है। जब वह काफी रात में लौटी तो पिता भड़के कि तुझे अपनी सुरक्षा की बिलकुल फिक्र नहीं है। बेटी ने भी बिगड़ते हुए जवाब दे दिया कि जब पिता को ही होश नहीं रहता है तो उसकी बेटी की सुरक्षा का क्या ठिकाना! माँ ने भी कह दिया कि ठीक तो कह रही है। पिता के होश उड़ गए। उन्होंने कसम खा ली कि आगे से शराब को हाथ नहीं लगाएँगे। बेटी से भी बोले कि तूने मेरी आँखें खोल दीं। सचमुच, उन्होंने शराब पीना छोड़ दिया।

इस सच्ची घटना को बताने का आशय यह है कि कोई बुरा आदमी आराम से अच्छा बन सकता है, बस उसमें चाह और लगन होनी चाहिए। हम जानते हैं कि सत्संग बुरे-से-बुरे को अच्छा बना सकता है। पारस की कल्पना इसीलिए की गई है कि लोहा भी सोना बन सकता है।

कथ्य का नकारात्मक पक्ष यह है कि आदमी में यदि चाह और लगन नहीं है तो, उदाहरण के लिए, अच्छे-से-अच्छा गुरु पाकर भी शिष्य योग्य नहीं बन सकता। यदि बुरा आदमी कोयले के समान है तो उसे कोई भी पारस सोना नहीं बना सकता। यदि वह धतूरा है तो उसे कोई भी घी अच्छी सब्जी नहीं बना सकता। यदि वह बिच्छू है तो उसे कोई भी वैज्ञानिक तितली नहीं बना सकता।

अभी तक दो प्रकार के 'बुरे' आदमियों से संबंधित बात हुई—(१) ऐसा बुरा आदमी, जो अच्छा बन सकता है, (२) ऐसा बुरा आदमी, जो कभी अच्छा नहीं बन सकता। आगे दो प्रकार के 'अच्छे' आदमियों से संबंधित बात करेंगे। (१) ऐसा अच्छा आदमी, जो बुरा बन जाता है, (२) ऐसा अच्छा आदमी, जिसे कोई बुरा नहीं बना सकता।

कहा जाता है कि अच्छे-खासे बच्चे कुसंगति में पड़कर बिगड़ जाते हैं। सही है। यदि कोई व्यक्ति दूषित पानी और सड़े-गले भोजन से परहेज नहीं करेगा तो उसका स्वास्थ्य चौपट होगा ही। अच्छे-से-अच्छे आदमी को भी लोभ के चक्कर में फँसकर बिगड़ते देर नहीं लगती—विशेषकर राजनीति, अधिकार और व्यापार के क्षेत्र में।

अच्छे आदमी का सदा अच्छाई पर टिका रहना आदमी की सर्वोच्च अवस्था है। उसपर बुराइयाँ अपना असर नहीं डाल पातीं। वह कीचड़ के बीच भी कमल के समान रहता है। उसके चारों तरफ यदि साँप लिपटे रहते हैं, तब भी वह चंदन के वृक्ष के समान उनका जहर ग्रहण नहीं करता। आदमी की यह स्थिति स्थायी लाभ की स्थिति है। यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब आदमी में अच्छाई के लिए इतनी आसक्ति रहे कि वह हर प्रकार के लोभ का त्याग कर सके।

हमारी बुद्धि हमारी सबसे बड़ी पूँजी है। हमारा विवेक हमारा सबसे बड़ा धन है। हम अपने बारे में स्वयं ही फैसला करें कि हम मानवता के नाम पर क्या बनना और क्या बना रहना चाहते हैं। बुरे हैं, तब क्या? और अच्छे हैं, तब क्या? निर्भर सबकुछ अपनी 'चाह' और 'लगन' पर ही है। हमें बुरा बनने और बुरा बना रहने

से भी कोई नहीं रोक सकता तथा अच्छा बनने और अच्छा बना रहने से भी कोई नहीं रोक सकता। अंत में, हम यह सदा याद रखें कि हमारा बुरा होना या अच्छा होना हमारे दुनिया से जाने के बाद भी वैसे ही बुरे या अच्छे नाम के साथ चर्चा में हमारी आगामी पीढ़ियों तक बना रहेगा।

समय और कुछ सावधानियाँ

श्रीमानजी को जब कभी ट्रेन से कहीं जाना होता है तो वे घर से स्टेशन पहुँचाने के लिए ऑटोवाले को अपने घर आने का समय ट्रेन छूटने के समय से आधे घंटे पूर्व का देते हैं। उनके घर से स्टेशन का ऑटो से रास्ता स्थूलतः बीस से पच्चीस मिनट का है। उन्हें घर के लोग कई बार सलाह दे चुके हैं कि किसी कारण हो सकनेवाले अवांछित विलंब को ध्यान में रखकर वे ऑटोवाले को दस-बारह मिनट और पहले बुला लिया करें; पर वे इसके लिए सहमत नहीं होते। वे कहते हैं कि उन्हें 'इतनी जल्दी' स्टेशन पहुँच जाना बिलकुल अच्छा नहीं लगता। (यह अलग बात है कि उनकी इस जिद के कारण उनकी गाड़ी दो-तीन बार छूट चुकी है।)

समय की पाबंदी और उसे बरबाद न करना बहुत अच्छी बात है; पर यह तभी तक ठीक है जब तक आदमी का संबंधित घटनाक्रम पर अपना वश चलता हो। यदि आदमी भविष्य में थोड़ा सा झाँकते हुए चले तो उसके वर्तमान की सुरक्षा स्वतः होती चली जाय।

ऊपर जिन श्रीमानजी की चर्चा की गई है, उन्हें यात्रा को शुरू करने के नाम पर इतनी सावधानी जरूर बरतनी चाहिए कि यदि ऑटोवाला किसी आकस्मिक कारण से उनके यहाँ न पहुँच पाए या अनपेक्षित विलंब से पहुँच पाए या दिए गए समय पर पहुँचने के बाद भी स्टेशन के रास्ते में अधिक ट्रैफिक आदि के कारण उन्हें स्टेशन गाड़ी छूटने के पहले तक न पहुँचा सके, तब भी उनके सामने अन्य विकल्प जरूर खुला रहे। यह नहीं कि गाड़ी न पकड़ पाने के कारण मुँह लटकाकर वापस चले आ रहे हैं—यह बड़बड़ाते हुए कि ऑटोवाले ने या सड़क की भीड़ ने या ट्रेन के एकदम सही टाइम पर आ जाने ने—गड़बड़ कर दी। अरे! जब यात्रा में आगे कितना ही समय खर्च होना है तो निश्चितता और निश्चिंतता के लिए स्टेशन पर कुछ पहले पहुँचकर थोड़ा समय वहाँ खर्च कर देने में कौन बड़ा भारी संकट है! (दूसरी ओर, जब कोई गाड़ी लेट पर लेट होती जाती है तब भी तो श्रीमानजी अपने 'कीमती समय' का खून झेलते ही हैं।)

दरअसल, ऐसे हर मामले में आदमी में थोड़ी दूरदर्शिता का होना बहुत जरूरी है। हम किसी काम को पक्के तौर से करने का लक्ष्य लेकर उसकी शुरुआत के पहले की संभावित कमजोरियों को सुधारने के लिए कुछ मारजिन या गुंजाइश

अवश्य रख लें। मामूली सी दूरदर्शितापूर्ण सावधानी हमें कई बार असफलता और संकट से बचा लेती है। हमें, उदाहरण के लिए, पहले से यह क्यों नहीं सोच लेना चाहिए कि दूध आदि को बिना ढके छोड़ देने से उसमें धूल-गंद और कीड़े-मकोड़े गिर सकते हैं। हमें पहले से यह क्यों नहीं सोच लेना चाहिए कि बिना लॉक किया गया स्कूटर छोड़कर दो मिनट के लिए भी किसी कार्यालय के भीतर जाने से स्कूटर पार हो सकता है। हमें पहले से यह क्यों नहीं सोच लेना चाहिए कि निर्धारित और नियंत्रित गति से तेज वाहन चलाने से हम अपने गंतव्य के बजाय अस्पताल में या 'कहीं और भी' पहुँच सकते हैं।

इन उदाहरणों में संकेतित सावधानियाँ बरतने में हमें थोड़ा सा ही अतिरिक्त समय खर्च करना होता है; जबकि बदले में मिलनेवाली निश्चिंतता और आगे काम न बिगड़ने का लाभ एवं संतोष उसकी तुलना में बहुत अधिक होता है।

❋ प्रेरक वाक्य ❋

एक लड़की अपनी तरक्की की कहानी सुना रही थी और उसका श्रेय अपने बहुत साल पुराने एक टीचर के द्वारा उससे कभी कहे गए प्रेरक वाक्यों को दे रही थी। कहानी कुछ इस प्रकार है—

पढ़ाई पूरी होने पर उसने हर सामान्य अभीप्सु के समान नौकरी पाने के लिए कुछ जगह आवेदन किया था। संयोग से उसके पास शीघ्र ही केंद्र सरकार की एक नौकरी के लिए दिल्ली से इंटरव्यू हेतु पत्र आया। दिल्ली उसके नगर से बहुत दूर थी। वह वहाँ जाने के नाम पर यह सोच-सोचकर बुरी तरह घबरा रही थी कि असफलता तो मिलनी ही है, पता नहीं और क्या दुर्गति हो। अनिश्चितता और दुराशा से उपजे डर के मारे वह इंटरव्यू देने नहीं जा रही थी।

उसके एक पितृतुल्य टीचर ने उसे समझाया कि डरो मत, ऐसी स्थिति में बस दूर से ही डर लगता है—शुरू में अँधेरा सा दिखाई देता है; लेकिन यदि सचमुच के अँधेरे में भी एक बार घुस जाओ तो वहाँ भी थोड़ी सी देर में सबकुछ दिखाई देने लगता है।

लड़की इंटरव्यू में गई। उसने वहाँ ठीक वैसा ही अनुभव किया जैसा उसके टीचर ने उसे बताया था। सुयोग से उसे नौकरी भी मिल गई। टीचर द्वारा उससे कहे गए वाक्यों में उसकी आस्था बहुत दृढ़ हो गई।

उसकी पोस्टिंग एक अजनबी नगर में हुई। कुछ दिनों बाद शादी हुई। फिर यहाँ-वहाँ ट्रांसफर हुए। समयानुसार प्रमोशन होते गए। उसने अपने ऊपर लागू हुए उपर्युक्त प्रेरक वाक्यों का हर अवसर पर सदुपयोग किया। आज वह एक बड़ी अफसर है।

कहानी खत्म, विश्लेषण शुरू। टीचर के वाक्य कोई खास उपदेशात्मक नहीं थे, पर वे उस लड़की के जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बन गए। हम भी यदि चाहें तो उनसे यह सीख ले सकते हैं कि अपनी मंजिल की तरफ कदम बढ़ाने के पहले ही हार मान लेना गलत है। दरअसल आदमी के सामने अकसर ऐसी समस्याएँ आती रहती हैं, जिनका समाधान उसे अपने मनोबल से करना पड़ता है। इस मनोबल को जुटाने के लिए वह कई बार किन्हीं बड़ों के द्वारा कही गई सूक्तियों का सहारा लेता है। ये सूक्तियाँ विभिन्न क्षेत्रों के बड़े लोगों के अनुभव का सार होती हैं।

आदमी जिसपर श्रद्धा रखता है, वह उसके कथनों और निर्देशों को विशेष महत्त्व देकर उनपर अमल करने का संकल्प ले लेता है। उस समय उसकी काम से जी न चुराने की कर्मठता ही उसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। इसके विपरीत, यदि वह किसी पर श्रद्धा नहीं रखता है तो उसकी अच्छी-से-अच्छी बातों पर भी अमल नहीं करता, जिसके फलस्वरूप वह संभावित लाभ से वंचित रह जाता है। दूसरे शब्दों में, तरक्की चाहनेवाला व्यक्ति प्रेरक वाक्यों को ग्रहण करके उन्हें मार्गदर्शक मानते हुए उनपर निष्ठापूर्वक अमल करने के कारण सफलता पा लेता है; जबकि ऐसे वाक्यों के प्रति आँखें मूँद लेनेवाला व्यक्ति आलस्य या अहंकार में मारा जाता है।

इस समय चल रही चर्चा के संदर्भ में सबसे बड़ी सच्चाई यह है कि आदमी सबकुछ करने-धरने के लिए अंतिम रूप से जिम्मेदार खुद ही होता है। यदि वह चाहे तो उसकी दृष्टि प्रेरक वाक्यों पर हर जगह ठहर सकती है। यदि वह चाहे तो उन्हें माध्यम बनाकर अपनी इच्छा-शक्ति को दृढ़ से दृढ़तर बनाया जा सकता है। वह उन्हें बार-बार दोहराकर अपने संस्कारों में डाल सकता है। जो काम शरीर को चुस्त-दुरुस्त रखने के लिए शरीरांगों की कसरत करती है वही काम मन को चुस्त-दुरुस्त रखने के लिए प्रेरक वाक्यों का अभ्यास करता है।

अवगुणों की दुर्गंध और परिणाम

एक साहब ने अपने मकान में नल फिटिंग का कुछ छोटा-मोटा काम करवाने के लिए स्वयं से बीस साल से अच्छे संबंधोंवाले एक पूर्व परिचित कर्मचारी को बुलाया। कर्मचारी ने पाइप आदि हेतु नाप-जोख करके लगभग तीन सौ रुपए का सामान लगने के साथ अपने मेहनताने के सौ रुपए बताए। उसपर 'पहली जबान विश्वास' करते हुए साहब ने सामान के लिए उसे तीन सौ रुपए दे दिए।

कर्मचारी सौ प्रतिशत अपनी जिम्मेदारी पर काम करने लगा। (विश्वासपात्र जो ठहरा!) काम निबटने के पास पहुँचते-पहुँचते संयोग से साहब ने देखा कि कर्मचारी के औजारों आदि के साथ उनके घर की भी तीन-चार चीजें कर्मचारी

के थैले में पहुँच चुकी हैं। यह झटका खाकर उन्होंने बातों-बातों में कर्मचारी से बाजार से लाए गए सामान का बिल देखने के लिए माँग लिया। (संकोच के साथ; क्योंकि संबंध जो बहुत अच्छे थे!) कर्मचारी का उसे अपनी ओर से साहब को दिखाने या देने का कतई इरादा नहीं था। मकान में फिट किए गए सामान को बिल के विवरण से मिलाकर देखने पर पता चला कि आधा भी सामान नहीं लगा था। कर्मचारी से जब पूछा तो झूठ पर झूठ, झूठ पर झूठ। साहब का विश्वास चकनाचूर हो गया। कर्मचारी से उसके ईमान की 'भारी प्रशंसा' करते हुए उन्होंने उसे उसका पूरा मेहनताना देकर प्रेमपूर्वक विदा कर दिया।

लेकिन, उसके प्रति निरंतर बेहद अच्छा व्यवहार करने के बावजूद उससे मिली इस ठेस से विचलित होकर साहब ने उसकी इस हरकत के बारे में अपना मन हलका करने के लिए अपने निकट के एक-दो साथियों को बताया।

संयोग देखिए कि उन साथियों में से एक उस कर्मचारी के बेटे को शीघ्र ही अपने विभाग में उसके लायक एक छोटे पद पर नियुक्त करने वाला था। साहब की उपर्युक्त 'संस्तुति' सुनते ही वह बोला कि ऐसे चोर और अविश्वसनीय व्यक्ति की औलाद को मैं अपने यहाँ बिलकुल नियुक्त नहीं करूँगा। पता नहीं वह कितनी 'होनहार' निकले!

यह घटनाक्रम यह संदेश देता है कि यदि किसीके भीतर सगे-से-सगे लोगों के प्रति भी विश्वासघात और कृतघ्नता की सड़ाँध ने घर बना लिया है तो उसे समाज की ओर से कहीं-न-कहीं सजा मिल ही जाती है; क्योंकि उसके गंदे व्यवहार की बदबू सड़ते हुए चमड़े के समान खुद-ब-खुद चारों तरफ फैलती जाती है। गलत तैरनेवाला कभी-न-कभी डूबता ही है। रद्दी-ही-रद्दी खानेवाले की माँ कब तक खैर मनाएगी! एक बार को 'आप' उसे बख्श भी देंगे, पर समाज और समय उसे नहीं बख्शेगा।

सुखी रहने के लिए समय बचाना जरूरी

एक अजीज ने मुझसे मजाक में पूछा कि मैं सुखी रहने के लिए समय कैसे निकाल पाता हूँ। उस समय मेरे पास इसके तीन जवाब थे।

पहला—एक बार मेरा एक दोस्त मुझे अपने काम से अपने साथ एक मंत्री महोदय के यहाँ ले गया। वहाँ अपने-अपने काम से आए हुए लोगों की भीड़ देखकर मुझे लगा कि मैं किसी नुमाइश में पहुँच गया हूँ। तरह-तरह के नमूने सजे हुए दीख रहे थे। लेकिन सबमें एक बात में गजब का साम्य था। वह यह कि सबके चेहरों से लग रहा था कि मंत्रीजी उनके 'पिताजी' हैं!

भीतर के कमरे में मंत्रीजी लोगों की पेशियों पर पेशियाँ ले रहे थे। सचमुच कमाल का धैर्य और स्टैमिना था उनमें। मेरे दोस्त का भी नंबर आया। वह 'अनुभवी' तब तक बैठा-बैठा एक नींद ले चुका था, जबकि मैं सज्जनता के कारण सूख गया था।

तब से मैं मंत्री क्या, किसी विधायक के यहाँ भी कभी नहीं जाता। सिर्फ समय बचाने की गरज से।

दूसरा—हमारे स्वाधीन देश की ट्रेनें लेट हो-होकर यात्री वर्गों के करोड़ों घंटे बरबाद करती रहती हैं। ऐसे में वे बेचारे अपने सुख के लिए यदि समय निकालें तो कहाँ से?

मैं अब इसीलिए यात्रा नहीं करता। यहाँ तक कि तब भी नहीं जब पत्नी मायके जाती हैं। खूब समय बचाता हूँ।

तीसरा—एक बार मैं काफी बीमार पड़ गया था। ठीक होने में लंबा समय लग गया। बहुत दिन बरबाद हो गए।

अब मैं कभी बीमार नहीं पड़ता। सिर्फ इसीलिए कि इससे सबसे अच्छा समय बचता है।

मजाक की बात नहीं है। गंभीरता से विचार कीजिए कि क्या सुखी रहने के लिए समय बचाना जरूरी नहीं है? जरा प्रयास कीजिए और देखिए कि जितना आप सोचते आए हैं, उससे कई गुना ज्यादा सुख आपकी मुट्ठी में है।

हम छोटे भी हैं और बड़े भी

कुछ सौ कविताएँ लिख चुकनेवाले एक अच्छे-खासे कवि, लेकिन परम संकोची स्वभाव के अध्यापक महोदय ने अपनी कविताओं का पहला संग्रह छपवाने के बारे में कहा कि उससे कोई फायदा नहीं, क्योंकि न जाने कितने बड़े-बड़े कवियों के काव्य-संग्रह पहले से मौजूद हैं, जिनके सामने मेरा संग्रह कहीं नहीं टिक पाएगा।

उन महोदय का तर्क एकदम गलत था। उनकी महत्त्वाकांक्षा एक बहुत बड़ा स्वप्न थी। सामान्य व्यवहार की कसौटी पर उन्हें अपनी तुलना बहुत बड़े-बड़े स्थापित कवियों से नहीं करनी चाहिए थी। दूसरे, यदि वे स्वयं को उन बड़ों से बहुत छोटा मान रहे थे तो भी उनमें हीनता की भावना बिलकुल नहीं आनी चाहिए थी।

इसमें कोई शक नहीं है कि हम बड़ों से छोटे हैं; पर साथ में यह भी सच है कि हम बहुतों से बड़े भी हैं। आप यदि ऊपर देखते हैं तो नीचे भी देखिए।

सही मानसिक संतुलन के लिए ऊपर संकेतित दोनों छोरों को स्वीकार किया जाना जरूरी है; वरना जिस प्रकार अपने को छोटा-ही-छोटा मानने से आदमी

में हीनता की भावना आ सकती है उसी प्रकार अपने को बड़ा-ही-बड़ा मानने से उसमें अहंकार की भावना आ सकती है।

हमारे उक्त अध्यापक महोदय सीढ़ी पर क्रमशः चढ़ने के सिद्धांत को भूल रहे थे। वे अज्ञानवश या अन्यथा पहली ही छलाँग में सर्वोच्च शिखर पर पहुँचना चाहते थे। आदमी को किसी भी रूप में 'स्थापित' होने के लिए अनुभव और अभ्यास की अच्छी नींव तैयार करनी पड़ती है। मकान की छत बनाने के लिए पहले खंभे और दीवारें खड़ी करनी पड़ती हैं।

इस डर से कि बहुत से लोग हमसे बड़े हैं, हम काम शुरू ही न करें, यह स्थिति वस्तु के अस्तित्व में ही नहीं आने के बराबर है। हम काम शुरू तो करें। दीया जलाने के लिए माचिस की छोटी सी तीली तो जलाएँ। पेड़ पहले ही दिन फल नहीं देने लगता।

समाज और हम

एक गली के भीतर अपना मकान बनवानेवाले एक सज्जन को उस स्थान पर अपने द्वारा खरीदी हुई गिट्टी और रेत की गाड़ियाँ खाली करवानी पड़ गईं जिस स्थान से आगे गाड़ी का जाना संभव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि वहाँ बड़े-बड़े ढेर बन गए और आगे जाने का रास्ता कुछ दुर्गम हो गया। उन सज्जन ने तत्काल चार मजदूर लगाकर गिट्टी और रेत को तसलों में भरवा-भरवाकर गली में अपने मकान तक पहुँचवाना शुरू कर दिया। उस बीच आने-जानेवाले लोग विशेष सावधानी बरतते हुए आर-पार आते-जाते रहे।

कुछ समय बाद एक महोदय गिट्टी पर गलत ढंग से पैर रखकर आगे बढ़ते समय गिट्टी धसक जाने से लुढ़क गए। मामूली सी चोट लगी और पहना हुआ कपड़ा एक कोने से कुछ गंदा हो गया। महोदयजी भड़क पड़े। चीख-चीखकर, बल्कि भौंक-भौंककर गिट्टी डलवानेवाले सज्जन को गालियाँ देने लगे कि दुष्ट ने सारा रास्ता रोक दिया है। अपने बाप की सड़क समझ ली है आदि-आदि। दस-पंद्रह लोग इकट्ठे हो गए, जिन्होंने महोदय की चोट और गंदे हुए कपड़े के नाम पर उनके प्रति सहानुभूति तो दिखाई, पर अन्यथा उनका बिलकुल साथ नहीं दिया; क्योंकि सब जानते थे कि मकान बनवानेवाला भला आदमी पूरी चिंता के साथ वहाँ से गिट्टी और रेत जल्द-से-जल्द उठवा रहा था। थोड़ी देर में रास्ता साफ हो गया।

यहाँ दोष किसका था? मकान बनवानेवाला व्यक्ति जितना और जितनी जल्दी कुछ कर-करवा सकता था उतना अपनी जगह है; पर प्रश्न यह है कि लुढ़कनेवाले महोदय सिर्फ वही क्यों थे! ठीक उसी परिस्थिति में दर्जनों अन्य लोग भी तो उधर से आ-जा रहे थे, जो सामने की असुविधाजनक स्थिति का

आकलन करके केवल आधे मिनट की अतिरिक्त सावधानी बरतते हुए वहाँ से 'बिना लुढ़के' निकल जाते थे। पर नहीं, विडंबना यह है कि जो लोग लुढ़कना जानते हैं, उनके लिए उनका हर रास्ता चौबीस घंटे और तीन सौ पैंसठ दिन बढ़िया रहना चाहिए। वे न जाने किस समय सड़क को अपने दर्शन देने के लिए तशरीफ ले आएँ। उन्हें एक क्षण की भी असुविधा नहीं होनी चाहिए; क्योंकि वे अपना सारा समाज बस स्वयं होते हैं। सच्चाई यह है कि लापरवाही ऐसे लोगों की सिर्फ खुद ही रहती है, पर वे अपना दोष बिलकुल नहीं देख पाते। दूसरों की वाजिब मजबूरी पर भी वे उन्हीं पर बरसते हैं। ऐसे लोग 'समाज' का अर्थ और मूल्य नहीं समझते। हम मनन करें कि हम भी तो ऐसे नहीं हैं।

अब एक उलटा उदाहरण देखें, जिसमें खुद मकान बनवानेवाला आदमी 'समाज' का अर्थ नहीं जानता। उसने अपने बनते हुए मकान के लिए जरूरत पड़नेवाले पानी के लिए मकान के सामने की कच्ची सड़क के पार बहती हुई बड़ी नाली को फोड़कर अपने मकान की ओर सड़क के बीच से काट लिया, जो सड़क पर फैल-फैलकर चौड़ी-दर-चौड़ी और कीचड़युक्त होती चली गई, जिससे सड़क पर आने-जानेवाले पचासियों लोगों को हरदम परेशानी होने लगी। मकान बनवानेवाले को इस बात की बिलकुल परवाह नहीं थी कि उसपर उधर निकलनेवाला हर व्यक्ति थू-थू कर रहा है। ऐसे लोग सिर्फ अपने लिए सगे और सारे समाज के लिए कोढ़ होते हैं। आत्मशुद्धि के लिए हम यहाँ भी मनन करें कि कहीं हम भी तो अपनी किसी करनी से अपने चारों ओर तरह-तरह की गंदगी नहीं फैला रहे हैं।

सबसे बड़ा सुख

इस मोटी सच्चाई के बावजूद कि किसी व्यक्ति को 'किसी' चीज से ज्यादा सुख मिलता है और किसीको 'किसी अन्य' चीज से, विद्वानों ने 'सबसे अधिक सुख, उससे कम सुख, उससे कम सुख' आदि के नाम पर सामान्य वर्गों को उत्तराधार क्रम में क्रमांकित किया है। बाद के नंबरों में भले ही कुछ मतभेद मिलते हैं, पर सर्वप्रथम सुख के बारे में सब एकमत हैं कि वह 'उत्तम स्वास्थ्य' है।

आगे सात सुखों को हम उलटे क्रम में देखेंगे।

सातवें नंबर का सुख 'आपसी प्रेम' बताया गया है, जिसका नंबर बहुतों को गलत लगता है। पर माननेवाले यह मानते हैं कि अन्य छह सुख इससे पहले आते हैं, क्योंकि आदमी परिवारविहीन, संत-संन्यासी और एकांतवासी बनकर तथा केवल स्वयं से प्रेम करके भी सुखी रह सकता है। कुछ लोग तो दूसरों को सदा दुःख देकर भी आपसी प्रेम के बिना सुखी रह लेते हैं।

छठे नंबर पर 'सच्ची कमाई' को रखा गया है। काफी नीचे। इसका कारण यह है कि झूठी कमाई पर भी लोग ऐश-आराम, पद-प्रतिष्ठा आदि के साथ सुखी देखे जा सकते हैं। कई बार 'पाप की कमाई पाप में ही जाती है' जैसे सूत्र वाक्य केवल तसल्ली देनेवाले साबित होते हैं। कितने ही लोग कमाई तो पाप की करते हैं, पर दान-पुण्य में बहुत आगे रहते हैं। 'भगवान् के यहाँ देर है, अंधेर नहीं' जैसे वाक्यों के बारे में आज तक यह कोई नहीं बता पाया कि 'भगवान् के यहाँ 'कितनी' देर है'। और फिर बुरे व अच्छे कर्मों का फल मिलने में आखिर 'देर' क्यों है? क्या भगवान् को भी फैसला करने में देर लगती है? दरअसल ऐसे में लोग पूर्वजन्म के कर्मों का बहकावा देकर मन को संतोष देने का सरल रास्ता ढूँढ़ते हैं। जो धर्म पूर्वजन्म को नहीं मानते, उन्हें ये लोग क्या जवाब देंगे?

पाँचवें नंबर पर 'सत्संग' का सुख है। खुशबू के बीच और बदबू से दूर रहने का आनंद स्वयंसिद्ध है। अच्छे लोगों का साथ मिलने से हमारे संस्कार अच्छी दिशा में बढ़ें या न बढ़ें, हम सत्संग के क्षणों में बुराई के वातावरण से अवश्य सुरक्षित रहते हैं।

चौथे नंबर का सुख 'विद्या' का है। सत्संग बाह्य सुख है, विद्या और ज्ञान भीतरी। विद्या आदमी पर कुसंग का प्रभाव नहीं पड़ने देती। बच्चा-बच्चा जानता है कि चंदन पर यदि भुजंग लिपटे रहें, तब भी वह विष ग्रहण नहीं करता। विद्या भ्रम का निवारण करती है और विवेक का पोषण करती है।

रोटी और कपड़े का हिसाब दूसरे नंबर के सुख में आएगा। तीसरे नंबर का सुख 'भयरहित आवास' है। प्रकृति से लड़कर अंततः कोई नहीं जीत पाया है। आदमी को आँधी-पानी-धूप-शीत से अपनी सुरक्षा के लिए एक सुखदायी आवास जरूर चाहिए। ऐसा आवास, जहाँ वह निर्भय होकर रह सके। पशुओं, कीड़ों और आदमियों से भी निर्भय।

'ऋणरहित जीवन' दूसरे नंबर का सुख है। इसका मतलब आर्थिक दृष्टि से इतना खाता-पीता होना है कि हम अपनी जरूरतें खुद पूरी कर सकें, किसी चीज के लिए हमें दूसरों के आगे अपने हाथ न फैलाने पड़ें। इस सुख के साथ ही हमारी आकांक्षाओं का सीमित होना भी जुड़ा है और हमारे लोभ का त्याग भी, अन्यथा आदमी की इच्छाओं और जरूरतों का अंत कभी नहीं हो सकता।

अब प्रथम सुख। यदि स्वास्थ्य अच्छा न हो तो सारे सुख व्यर्थ हैं। अच्छे स्वास्थ्य के बिना आदमी धन, भोजन, मकान आदि किसीका भी सुख नहीं ले सकता। उत्तम स्वास्थ्य होने पर ही आप अधिक जी सकते हैं, अधिक काम कर सकते हैं—स्वयं के लिए और समाज के लिए—और मरने के बाद भी चलता रहनेवाला यश अर्जित कर सकते हैं।

चूँकि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' है, चूँकि 'जान है तो जहान है' है और चूँकि 'पहला सुख निरोगी काया' है, इसीलिए अपने स्वास्थ्य को सर्वोत्तम महत्त्व दीजिए।

❋ अपने ज्ञान को अधिक मत मानिए ❋

जो आदमी कम जानता है, कई बार वह यह समझता है कि वह बहुत जानता है (क्योंकि उसकी दुनिया बहुत छोटी होती है)। इसके विपरीत, जो आदमी जितना ज्यादा जानता है वह इस बात को भी उतना ही ज्यादा समझता है कि वह बहुत कम जानता है (क्योंकि उसका संसार बहुत बड़ा होता है और वह यह जानता है कि ज्ञान अनंत है)।

कम जाननेवाला आदमी अपनी कमियों और गलतियों को स्वीकार करने में हिचकता है, क्योंकि वह अपने को परफेक्ट और हमेशा सही समझने या जताने के अज्ञान या दंभ से घिरा रहता है। इसके विपरीत, अधिक जाननेवाला आदमी अपनी कमियों और गलतियों को बिना हिचक और अहंकार के स्वीकार कर लेता है; क्योंकि वह यह जानता है कि कोई भी व्यक्ति सबकुछ नहीं जान सकता।

कम जाननेवाला व्यक्ति यदि ईमानदार न हुआ और यदि सावधान न रहा तो वह हीनता की भाव-ग्रंथि का शिकार हो जाता है; जबकि अधिक जाननेवाला व्यक्ति इस मामले में निर्द्वंद्व और सामान्य रहता है।

एक महाविद्यालय में दो टीचर उपर्युक्त दृष्टि से एक-दूसरे के विपरीत थे। पहले महोदय अपनी कक्षा में छात्रों द्वारा पूछे गए ऐसे सवालों के जवाब गलत-सलत दे दिया करते थे, जिन्हें वे नहीं जानते थे। वे समझते थे कि यह कह देने से कि वे उनका उत्तर नहीं जानते, उनकी तौहीन हो जाएगी; जबकि ऐसा करते-करते बाद में वे अध्ययनशील छात्रों की नजरों में सचमुच तौहीन की स्थायी मूर्ति बन गए। दूसरे टीचर वैसी स्थिति आने पर साफ-साफ कह डालते थे कि वे प्रश्न विशेष का उत्तर नहीं जानते, आगे पढ़कर बताएँगे। छात्रों को शुरू-शुरू में एकाध बार तो वे कम योग्य लगे, पर बाद में उन्होंने योग्यता और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में बहुत इज्जत पाई।

पहले टीचर महोदय छात्रों को धोखा दे-देकर उनका अहित करते थे, जबकि दूसरे टीचर छात्रों को कभी गलत पाठ नहीं पढ़ाते थे। वे अपनी कक्षा में छात्रों से यह भी कह दिया करते थे कि वे खुद भी विविध प्रश्नपत्रों में सौ में सौ अंक नहीं ला सकते। वे छात्रों को समझाते थे कि कोई बहुत अच्छी पुस्तक भी पूर्ण और अंतिम सत्य नहीं होती, उसमें भी आगामी संस्करणों में संशोधन और परिवर्धन होते रहते हैं। वे यह कहने में बिलकुल नहीं झिझकते थे कि विषय की कुछ बातें

उनके कुछ छात्र उनसे ज्यादा जानते होंगे, क्योंकि यह संभव है कि उन छात्रों ने कुछ ऐसी किताबें पढ़ ली हों, जो उन्होंने नहीं पढ़ी हैं।

मुख्य बात है निष्ठा के साथ वास्तविकता का साक्षात्कार। उन टीचरों में से पहले साहब छात्रों के साथ ही नहीं, खुद अपने साथ भी छल करते थे। दूसरी ओर, दूसरे टीचर न तो छात्रों को धोखा देते थे और न स्वयं को भुलावे में रखते थे, जिसके पीछे कारण सिर्फ यह है कि वे जानते और मानते थे कि वे कम जानते हैं; जबकि पहले टीचर इस सच्चाई को जानने के बाद भी कि वे क्षेत्र विशेष में कम जानते हैं, इसे मानने को तैयार नहीं होते थे। यों संसार का हर आदमी हर दूसरे आदमी से कुछ बातें जरूर ज्यादा जानता है, क्योंकि किन्हीं भी दो आदमियों का संपूर्ण परिवेश सौ प्रतिशत एक जैसा नहीं हो सकता; पर यहाँ सवाल यह नहीं है कि हम दूसरों से क्या ज्यादा जानते हैं, सवाल यह है कि हम क्या-क्या नहीं जानते—और जो-जो नहीं जानते, उसे स्वीकार करने की हिम्मत क्यों नहीं करते। जरा क्षणिक संकोच को जीतकर हिम्मत करें, यह किसी भी सूरत में घाटे का सौदा नहीं है।

❋ इच्छा-पूर्ति की लिप्सा और क्रोध ❋

आदमी को क्रोध प्रायः तभी आता है जब कोई व्यक्ति उसकी इच्छा के अनुसार काम नहीं करता। इसका मतलब यह है कि क्रोध करनेवाला आदमी दूसरों को ठीक अपनी इच्छाओं के अनुसार चलाना चाहता है। क्या 'उच्चतम श्रेणी का माना जानेवाला प्राणी' यह अधिकार रखता है कि वह दूसरों की इच्छाओं को पूरी तरह कुचलकर उनपर अपनी इच्छाएँ लाद दे? यों तो यात्राओं के दौरान अजनबी मुसाफिरों और सड़कों पर आते-जाते अनजान राहगीरों के सामने भी क्रोध के अवसर आएदिन आते रहते हैं, पर बहुत से घरों और कार्यालयों आदि में तो बड़ों की छोटों पर क्रोध करने की मानो दिन-रात बपौती ही चलती रहती है।

कई बार क्रोध केवल अनुशासन और सुधार के लिए किया जाता है, पर कई बार वह घृण्य तानाशाही की श्रेणी में आता है। सुधारात्मक क्रोध का 'अच्छाई की ओर बढ़नेवाले छोटे लोग' प्रतिवाद नहीं करते; पर केवल दादागीरीवाले विवेकशून्य क्रोध के प्रति उनका रुख सकारात्मक और सहयोगात्मक नहीं होता। होना भी नहीं चाहिए।

क्रोध की अग्नि का शमन करने में दोनों पक्षों का योगदान आवश्यक है। उसके लिए जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका क्रोध करनेवाले का स्वयं पर नियंत्रण

अदा करता है उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका जिसपर क्रोध किया जा रहा है उसकी विनम्रता और शालीनता अदा करती है। आप कुछ ऐसे लोगों को जरूर जानते होंगे, जो अपने क्रोध को पी डालने में माहिर होते हैं और दूसरी ओर वे अपने अच्छे व्यवहार से किसी अन्य को भी अपने ऊपर क्रोध दिखाने का कोई मौका नहीं देते। उन्हें नमन है।

क्रोध न करनेवालों में भरपूर विवेक और अत्यधिक सहनशीलता होती है। वे हरदम याद रखते हैं कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों का 'मति और रुचि' की दृष्टि से न्यूनाधिक भिन्न होना शाश्वत नियम है। वे अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हमारे सामने हमारी इच्छाओं की पूर्ति का सवाल रहता है तो सामनेवालों के सामने उनकी भी इच्छाओं की पूर्ति का सवाल रहता है। इसीलिए वे सदा स्वीकार करते हैं कि हम केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पागल क्यों बनें; हम 'मानव' होने के नाते दूसरों को भी यथासाध्य संतुष्ट होने का अवसर क्यों न दें।

क्रोध न करनेवाले लोग उन लोगों को भी प्रेम से सहते हैं, जो उनकी बात नहीं मानते। वे सहनशीलता और सद्भाव की जीती-जागती मूर्ति होते हैं। ऐसे लोग ही ऊपर उठते-उठते देवत्व की ऊँचाइयों पर पहुँचने में सफल हो पाते हैं।

जरा सोचकर देखिए कि यदि, उदाहरणार्थ, आपका कोई शिष्य आपकी अपेक्षा के प्रतिकूल गलत-सलत भाषा लिखकर लाता है और आप उसे जाँचते हुए उसपर धुआँधार बरसकर उसकी पांडुलिपि को फेंक देते हैं तो आप कितने कमजोर हैं। ऐसे में आप फौरन यह याद कर लें कि संसार के किसी भी आदमी को हम सौ प्रतिशत अपनी चाहत के अनुरूप नहीं बना सकते। इसका ठीक उलटा भी सोचें कि आप भी अपने को संसार के किसी भी आदमी की चाहत के सौ प्रतिशत अनुरूप नहीं बना सकते। जीवन केवल समझौता है—हर दो व्यक्तियों के बीच प्रेम संबंधों और मतभेदों का समझौता। इस आधार पर, उदाहरण के लिए, यदि आपका बच्चा अपने पैरों पर खड़ा हो चुका है, तब उसे चलने के लिए बात-बात में अपने पैर मत दीजिए और यदि वह आपकी इच्छा के विरुद्ध अपना कैरियर आपके कैरियर से भिन्न बनाना चाहता है तो आप अपना मुँह फुलाकर उसपर अपनी जिद्दी इच्छा मत थोपिए। इसी प्रकार, यदि आपकी पत्नी लक्ष्मीजी में आस्था रखती हैं और आप शिवजी में, तो आप दोनों एक-दूसरे को अपनी बात मनवाने के लिए क्रोध मत कीजिए। सुखी जीवन जीनेवालों की स्थापना है कि एक-दूसरे की इच्छा का 'आदर' करके एक-दूसरे को बहुत आसानी से जीता जा सकता है।

जैसा कर्म वैसा फल

एक नवोदित लेखक अपने बारे में घटित एक किस्सा सुना रहा था कि उसने

अपनी एक पुस्तक छपवाकर उसकी कुछ प्रतियाँ अपने नगर के पाँच बुक स्टॉलों पर उनके द्वारा तय किए गए कमीशन पर बेचने के लिए रखवाईं। छह महीनों के बाद वह हिसाब के लिए उन सबके पास गया। पाँच में से तीन ने बहुत खुशी के साथ उसका हिसाब कर दिया और पैसे दे दिए। उन तीन में से दो ने कुछ प्रतियाँ आगे के छह महीनों के लिए भी लेकर रख लीं। उन स्टॉलवालों पर लेखक ने लेबल चिपका दिया कि वे अच्छे आदमी हैं। जब उसने उनके बारे में अन्यों से बात की तो उन्होंने भी उन तीनों को भला आदमी बताया। सचमुच उन स्टॉलवालों का अच्छा व्यवहार ही उन्हें दिनोंदिन समृद्ध बना रहा था। वे खूब फल-फूल रहे थे। उनके स्टॉल दिन पर दिन तरक्की कर रहे थे।

शेष दो स्टॉलवालों में से एक ने लेखक से कहा कि कल आ जाना, अभी खोजनी पड़ेंगी कि तुम्हारी किताबें कहाँ दबी पड़ी हैं। सुनते ही लेखक समझ गया कि वह स्टॉलवाला कैसा आदमी है। यदि किताब की प्रतियाँ कहीं दबी पड़ी हों तब भी और यदि बिक चुकी हों तब भी। उसके बाद अंतिम स्टॉलवाले ने लेखक से कहा कि तीन-चार दिनों में आना। मेरा बेटा आकर उस बारे में बात करेगा। यहाँ उल्लेखनीय है कि लेखक ने पुस्तक की प्रतियाँ उन पिता महोदय को ही दी थीं, बेटा उस समय भी दुकान पर नहीं था और अन्यथा भी कभी भूल से ही दुकान पर बैठकर पिता का साथ देता था। अब क्या कहें! ये दोनों स्टॉल नगर की बेहद अच्छी जगहों पर हैं, जहाँ कोई भी व्यापार सोना उगलता है। लेकिन वे स्टॉल भिनक रहे हैं, क्यों? केवल इसीलिए कि उनके मालिकों का ग्राहकों आदि के साथ व्यवहार बहुत गंदा है। वे जिसे भी 'काटते' हैं, वह उन्हें लामुहाला हर जगह 'कटखना' कहकर उनकी वास्तविकता खोलता रहता है।

इस किस्से से एक बहुत जाना-पहचाना शाश्वत सामाजिक, धार्मिक नियम सिद्ध होता है कि जैसी करनी वैसी भरनी—और यह भी कि कर्मों का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

बुरे और अच्छे पदाधिकारी

पदाधिकारी चार प्रकार के होते हैं—(१) स्वयं के लिए ढीले, नीचेवालों के लिए सख्त; (२) स्वयं के लिए सख्त, नीचेवालों के लिए ढीले; (३) स्वयं के लिए भी ढीले और नीचेवालों के लिए भी ढीले; (४) स्वयं के लिए भी सख्त, नीचेवालों के लिए भी सख्त।

उपर्युक्त में से प्रथम प्रकार के अधिकारी सबसे गंदे होते हैं। उन्हें अपने स्वार्थ के अलावा कुछ नहीं दीखता। वे सारे अधिकारों का उपयोग केवल अपने लाभ के लिए करते हैं और दूसरों के लिए नियम तथा सिद्धांत बघारते हैं। उन्हें अधिकतर लोग गाली देते हैं।

द्वितीय प्रकार के अधिकारी स्वयं तो चरित्रवान् होते हैं, पर सामाजिक प्रशासन की दृष्टि से बेकार होते हैं। वे स्वमुखी होकर आत्मविकास करते रहते हैं और किसी तरह के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। वे समाज से थोड़ी-बहुत प्रशंसा पा लेते हैं; पर उनके दूसरों के लिए ढीले दायित्वों से अनेक शरीफ लोगों को कष्ट भुगतने पड़ते हैं। कुछ भले लोग उनसे कुछ सीखें ले लेते हैं, पर बुरे लोग उनके कार्यकाल में गलत मजे मारते रहते हैं।

तृतीय प्रकार के अधिकारी न स्वयं के प्रति ईमानदार होते हैं और न दूसरों के प्रति। किसी भी तरह के नियम-पालन और पाबंदी में उनकी कोई रुचि नहीं होती। उनके कार्यक्षेत्र में 'अनुशासन' नाम की कोई चीज नहीं होती। फिर भी उनके अनेक प्रशंसक होते हैं, जो मनमानी और उच्छृंखलता के साथ अपनी जिंदगी बिताते हैं। मूलतः उनकी कोई इज्जत नहीं होती।

चतुर्थ प्रकार के अधिकारी समाज के आदर्श होते हैं, जो गलत काम के लिए न दूसरों को बख्शते हैं, न खुद को। दुष्ट लोग उन्हें परेशान करने के खूब हथकंडे अपनाते हैं, पर वे अपने नैतिक बल से अपने ईमान पर अडिग रहते हैं—भले ही टूट जाएँ। उनके विरोधी भी अपने भीतर से उनकी इज्जत करते हैं। सामान्य स्थिति रहने पर वे अपने कार्यकाल में इतने सफल होते हैं कि अमर हो जाते हैं।

यदि आप अधिकारी हैं तो अपना मूल्यांकन कीजिए कि आप इन चार प्रकारों में से किस प्रकार के हैं। अगर आप कमजोर हैं और सुधरना चाहते हैं तो आपके पास वक्त व ताकत सबकुछ है, वरना अन्य कोई भी व्यक्ति आपको नहीं सुधार सकता। आचार्य महाप्रज्ञ ने एक श्लोक के उद्धरण से समझाया है कि 'कोई भी व्यक्ति किसीको बलपूर्वक अच्छा नहीं बना सकता। अत्यंत शक्तिशाली अर्हत भी किसीसे जबरदस्ती श्रेय का आचरण नहीं करवा सकते। वे केवल प्रेरणा दे सकते हैं। अच्छा जीवन जीना मनुष्य की केवल अपनी इच्छा पर निर्भर है।'

घर का जोगी छोटा नहीं होता

ऐसा अकसर होता है कि हम अपने आसपास के कुछ लोगों को उतनी इज्जत नहीं दिया करते जितनी उन्हें बाहर और दूर-दूर से मिलती रहती है। कहावत ही चलती है—'घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध'—अर्थात् अपने घर में यदि कोई योगी है तो उसे 'जोगड़ा' कहकर कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, लेकिन यदि वह अन्य गाँव का है तो उसे 'सिद्ध पुरुष' मानकर उसको खूब इज्जत दी जाती है। ठीक ही तो है—किसीका छोटा भाई होगा कहीं का डायरेक्टर-फायरेक्टर, घर में तो वह भाभी का छुटकू देवर ही है।

इससे भिन्न, कभी-कभी हम विदेश से आए हुए किसी ऐसे आदमी को भी 'विशिष्ट व्यक्ति' का दर्जा दे देते हैं, जो केवल 'आन गाँव की ऊँची बोली' बोलता है और जिसे उसके देश में कोई दो कौड़ी को भी नहीं पूछता।

ऐसे अनेक प्रवचनकार, लेखक, प्राध्यापक और शोधकर्ता आदि होते हैं जिनकी दूर-दूर तक ख्याति फैल चुकी होती है, पर अपने स्थान पर उन्हें कोई सम्मान नहीं मिलता—अच्छे-अच्छों को 'घर की मुरगी दाल बराबर' का व्यवहार मिलता है। हाँ, यदि उन्हें कोई बड़ा इनाम बाहर मिल जाता है, तब अलबत्ता उन्हें स्थानीय लोग भी सम्मान देने के लिए टूट पड़ते हैं—बल्कि वे इनाम-सम्मान पानेवाले सज्जन को अपने यहाँ का गौरव और धरतीपुत्र आदि बताना शुरू कर देते हैं (अकस्मात् यह ज्ञान प्राप्त करके कि वह व्यक्ति तो पहले से काफी योग्य था)।

अपने आसपास के किसी योग्य व्यक्ति की योग्यता को न पहचान पाना या उसे स्वीकार न करना अपनी अयोग्यता या उसके प्रति ईर्ष्या के कारण होता है। यदि उसके प्रति हमारा व्यवहार ऐसा रहता है तब भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि वह तो मूलतः और अन्यों की नजरों में गुणी बना ही रहता है, हम जरूर ऊपर बताई गई अपनी कमी से ग्रस्त रह जाते हैं। यदि हम अपने घर के जोगी को 'जोगड़ा' न समझकर 'योगी' के रूप में ही स्वीकार करने लगें तो हमारा दर्जा पहले की अपेक्षा जरूर ऊँचा हो जाएगा।

एक क्षण आगे की बात

सड़क पर महोदयजी कीचड़ में सनी भैंसों की बगल से निकल रहे थे—एक भैंस के काफी निकट से। उस भैंस ने अपने ऊपर बैठी मक्खियाँ उड़ाने के लिए अपनी पूँछ फटकारी और महोदय के कपड़ों पर नक्शे बन गए। महोदयजी ने एक पत्थर उठाकर भैंस को दे मारा और उसके गैर मौजूद मालिक को सड़ी-सड़ी गालियाँ दे डालीं।

भैंस बेचारी नहीं जानती थी कि उसे 'अपने जैसे समझदार' आदमियों से कुछ दूर हटकर चलना चाहिए था। मालिक बेचारा भी नहीं समझता था कि उसे अपनी भैंस को समझा-बुझाकर ही सड़क पर निकलने देना चाहिए था।

महोदयजी ने पहली गलती यह की कि उन्होंने भैंस की कीचड़मयी पूँछ को नहीं निहारा; दूसरी गलती यह की कि वे भैंस से लगभग सटकर निकले और तीसरी गलती यह की कि उन्होंने बाद में भी अपनी गलती नहीं मानी।

दुनिया ऐसे ही चलती रहेगी। यदि ऐसा न हो तो आप 'समझदार' और 'नासमझ' में अंतर कैसे करेंगे! (आशा है कि आप 'समझदार' वर्ग के हैं।)

उपर्युक्त उदाहरण एक नमूना मात्र है। ऐसे व्यक्ति अपने मस्तिष्क को वर्तमान से एक क्षण भी आगे के बारे में सोचने की तकलीफ नहीं देते, जिसके फलस्वरूप वे कभी-कभी आगे ज्यादा बड़ी तकलीफ झेलने को मजबूर हो जाते हैं। यदि 'हमारे महोदयजी' यह सोच लेते कि भैंस की पूँछ एक क्षण आगे कुछ हरकत कर सकती है, इसलिए उससे जरा दूर से ही निकलना चाहिए, तब न तो उनके कपड़े गंदे होते, न उन्हें भैंस को पत्थर मारने की जरूरत पड़ती और न उसके अनुपस्थित मालिक को गालियाँ देकर अपनी जबान तथा मन को गंदा करना पड़ता।

इनसानियत का रिश्ता

छोटा आदमी बड़ों को भी छोटा मानता है, जबकि सही बड़ा आदमी छोटों को बिलकुल महसूस नहीं होने देता कि वे छोटे हैं। वह अन्य बड़ों से तो ऐसी बातें करता ही है कि वे उसे एकदम अपना समझते हैं, वह छोटों से भी ऐसी बातें करता है कि वे भी उसे अपना समझे बिना नहीं रह पाते।

किसी व्यक्ति को हीनता भरी दृष्टि से देखना देखनेवाले का अहम् या अज्ञान मात्र होता है। यदि कोई व्यक्ति अपना यह अधिकार मानता है कि वह कुछ लोगों को तुच्छ माने तो उसे खुद को भी दूसरों के द्वारा तुच्छ माना जाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

दुनिया में बड़ों और छोटों की असंख्य श्रेणियाँ हैं। किसी-न-किसी बात में हर आदमी दूसरों से बड़ा और छोटा होता है। आप मुझसे दुकानदारी के ज्ञान में बड़े हैं, मैं आपसे पर्यटन ज्ञान में बड़ा हूँ। आप मुझसे खेती-किसानी करने के नाम पर छोटे हैं, मैं आपसे तबला-हारमोनियम बजाने के नाम पर छोटा हूँ।

यदि हम चाहते हैं कि हमारे अंदर की दूसरों से बड़ी बातों की दूसरे लोग कद्र करें तो हमें उनके अंदर की, हमसे बड़ी बातों की कद्र करनी ही चाहिए। इनसानियत का रिश्ता इसी तरह पनपता है।

राष्ट्रीयता की भावना

हममें राष्ट्रीयता की भावना है या नहीं, इसे पहचानने का एक बहुत सरल तरीका यहाँ पढ़िए।

जब हमारे देश का किसी दूसरे देश के साथ राष्ट्रीय स्तर का कोई मैच होता है तब अलग-अलग लोगों के मन में अलग-अलग प्रकार के भाव उठा करते हैं। कुछ लोग उदासीन रहते हैं कि कोई भी जीते, हमें क्या। यदि उनकी खेल विशेष में रुचि शून्य होती हो, तब भी वे यह भावना तो रख ही सकते हैं कि हमारे देश

की हार नहीं होनी चाहिए। लेकिन चूँकि वे ऐसा महसूस नहीं करते, इसीलिए उनके लिए राष्ट्रीयता का कोई मूल्य नहीं होता और वे 'केवल अपने' मरने-जीने की चिंता में जिंदगी काटनेवाले होते हैं।

दूसरा वर्ग ऐसे लोगों का होता है, जो मन में यह मनाते रहते हैं कि उनका मनचाहा दूसरा देश जीत जाए। यदि हमारे देश के दुर्योग से ऐसा हो जाता है तो वे खुशियाँ मनाते हैं—पटाखे फोड़ते हैं, मिठाई बाँटते हैं। वे लोग नमकहराम होते हैं; क्योंकि वे नमक तो इस देश का खाते हैं, पर वफादारी दूसरे देश के प्रति रखते हैं। वे इस भूमि के साथ दगा करते हैं। वे राष्ट्रीयता के नाम पर कलंक होते हैं।

तीसरे वर्ग के लोग राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत होते हैं, जिन्हें इस देश की हार से ऐसा लगता है जैसे वे खुद पिट गए हों। यदि वे बहुत सच्चे स्पोर्ट्समैन हुए तो यहाँ तक तो स्वीकार करते हैं कि जीतने का हक अच्छा खेलनेवाली टीम का ही होता है, भले ही वह विदेशी टीम हो। पर अपने देश की हार पर उनका मन कचोटता जरूर है कि काश, हम अधिक अच्छा खेलते और हमारे देश की ही टीम विजयी होती!

❋ प्रश्न और उत्तर के आधार पर अच्छा सामाजिक ❋

'अच्छा सामाजिक' होने के लिए 'अच्छा श्रोता' होना बहुत जरूरी है। हम दूसरों की बात सुन-समझकर ही उनके और अपने बीच की नजदीकियाँ एवं दूरियाँ नाप सकते हैं और उनका जरूरत के हिसाब से सही इस्तेमाल कर सकते हैं। सिर्फ 'अपनी ओर मुँह करके' बैठे रहनेवाला आदमी परिवार और समाज के सुखद संबंधों का कारक नहीं बनता।

जो लोग दूसरों के सवाल को ठीक से नहीं सुनते वे सही और अच्छा जवाब नहीं दे सकते। हमारा जवाब हमारी अक्ल के हिसाब से चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि वह प्रश्नकर्ता के प्रश्न से संबंध नहीं रखता तो वह जवाब नहीं, उस संदर्भ में केवल बकवास है। जवाब लंबा होना भी कोई तारीफ की बात नहीं है। अनेक परीक्षार्थी परीक्षाभवन में केवल एक उत्तर पुस्तिका भरकर भी ऐसों से अधिक और काफी अंक प्राप्त कर लेते हैं, जिन्होंने चार-छह उत्तर पुस्तिकाएँ भरी होती हैं। जाहिर है कि उत्तर सिर्फ सटीक होना चाहिए।

अच्छा सामाजिक होने के लिए सही जगह पर सही प्रश्न भी किया जाना जरूरी है। आँय-बाँय कुछ नहीं चलेगा। आप संस्कृत के विद्वान् से रसायनशास्त्र

का कोई फार्मूला बिलकुल नहीं पूछेंगे, भले ही उस फार्मूले को आप छोटी कक्षा के स्तर का समझते हों।

एक महोदय जब भी किसी श्रोता वर्ग के सामने अपना कोई प्रश्न पेश करते हैं तो वह पाँच मिनट लंबा होता है। एक व्याख्यानकर्ता के सामने जब उन्होंने यही हरकत की तो व्याख्यानकर्ता ने उनसे विनम्रतापूर्वक केवल यह पूछा कि आपका यह प्रश्न था या उत्तर? बेचारे प्रश्नकर्ता महोदय श्रोताओं की हँसी के बीच दुम दबाकर छिप गए।

यदि सवाल भी कायदे का हो और जवाब भी तो सामाजिकों के बीच का रिश्ता सामंजस्यपूर्ण और मधुर रहता है। स्थिति विपरीत रहने पर परिणाम भी विपरीत हो जाने की पूरी संभावना रहती है।

बड़े पद और छोटे काम का वहम

एक विभागाध्यक्ष महोदय एक दिन अपने विभाग में इस बात से काफी परेशान रहे कि उनका बाबू अचानक नहीं आया, जबकि उन्हें एक बहुत जरूरी पत्र डिक्टेट करके उससे भिजवाना था। उनके एक दोस्त ने जब उनसे पूछा कि यदि पत्र इतना जरूरी था तो उसे उन्होंने अपने हाथ से ही लिखकर क्यों नहीं भेज दिया, तो वे बोले कि वह काम क्लर्क का था, उनका नहीं। उस छोटे काम को वे कैसे कर सकते थे। उनका कहना था कि उनका समय ज्यादा बड़े कामों के लिए है।

इसके विपरीत, एक दिन हमने देखा कि एक बैंक के शाखा प्रबंधक महोदय कुछ समय के लिए एक काउंटर का काम सँभाल रहे थे। जब उनसे उसका कारण पूछा तो वे बोले कि उस काउंटर का बाबू बैंक के काम से कुछ समय के लिए मुख्य शाखा चला गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से विभागाध्यक्ष और शाखा प्रबंधक महोदयों की समझ और व्यवहार (ज्ञान और कर्म) पर टिप्पणी करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि सबकुछ स्वतः स्पष्ट है। यहाँ आलोचना के पात्र सिर्फ विभागाध्यक्ष जैसे लोग हैं (शाखा प्रबंधक जैसे लोग तो प्रशंसा के पात्र हैं)।

प्रश्न यह है कि क्या जरूरत पड़ जाने पर अपने घर की सफाई करने के लिए आप अपने हाथ में कभी-कभार झाड़ू नहीं ले लेते हैं? क्या कोई मौका आ पड़ने पर किसी जिम्मेदारी को निभाने के लिए आपका अफसरियत से इनसानियत पर उतर आना इतना अपाच्य है?

मान लिया कि आपका पद एवं कार्य बड़ा है और आपका समय भी कीमती है, पर गांधीजी अपनी बकरी को चारा खिलाने के लिए और यहाँ तक कि अपना

मैला साफ करने के लिए भी आवश्यकता पड़ने पर समय क्यों और कैसे निकाल लेते थे?

दरअसल, साहबी का ढोंग आदमी को आदमी नहीं रहने देता। यदि कोई कारवाला साहब वक्त-जरूरत पैदल या साइकिल पर चल लेता है तो उसकी नाक कटकर साइकिल के नीचे नहीं आ जाती। बड़ा आदमी बन जाने का मतलब यह नहीं है कि आदमी अपनी जमीन को भूल जाए और सिर्फ आसमान में मँडराता रहे।

बुरे स्वभाव का अंजाम

मकान बनवानेवाले एक ठेकेदार महोदय का धंधा जब खूब चल निकला तो उन्होंने एक बढ़िया कार खरीद ली। उनमें बड़ा आदमी होने का गरूर आ गया। जब वे कार खुद ड्राइव करते हुए सड़क पर निकलते तो उम्मीद करते कि सड़क पर चलनेवाली सब कारें उनकी कार को सलाम झुकाते हुए निकला करें या उनकी कार के लिए रास्ता छोड़कर सड़क के किनारे खड़ी हो जाया करें। एक बार एक अंधे मोड़ पर जैसे ही उन्होंने अपनी कार गलत दिशा में दाहिनी ओर मोड़नी चाही कि एक कार अपने बाईं ओर सही मुड़ती हुई आगे आ गई। ठेकेदार की कार उससे जा टकराई। देखनेवाले हर आदमी ने देखा कि सारी गलती ठेकेदार की थी; लेकिन उनकी ठेकेदारी वहाँ भी वैसे ही गरज-गरजकर बोल रही थी जैसे वह मातहत मजदूरों से बोलती थी। ठेकेदार साहब दोष दूसरे कारवाले को ही दिए जा रहे थे कि उसने कार रोकी क्यों नहीं (जबकि सही दिशा में भी वही मुड़ा था और पहले भी वही निकला था)। सड़क पर इकट्ठा हुए कुछ लोगों ने ठेकेदार के अहम् को शांत करके किसी तरह बात रफा-दफा करवाई; पर एक बुजुर्ग महानुभाव के मुँह से निकल ही गया कि ठेकेदार की यह 'चोरी और सीनाजोरी' उसे एक दिन जरूर ले डूबेगी। उनका कहना था कि चूँकि ठेकेदार सड़क का ध्यान नहीं रखता है, इसीलिए सड़क भी उसका ध्यान नहीं रखेगी। ठेकेदार वृद्ध सज्जन पर हिकारत की नजर डालते हुए निकल गया।

लगभग एक साल बाद बुजुर्ग की कही हुई वह बात घटित हो गई। ठेकेदार महोदय अपने को बड़ा आदमी मानने की लत के अनुसार अपनी कार को शान के साथ बेहद गलत दिशा में स्पीड के साथ मोड़ बैठे—इस विश्वास में कि सामने से आनेवाला कोई भी वाहन उनका महत्त्व स्वीकार करेगा ही। लेकिन उनके दुर्योग से एक ट्रक अपने सही रास्ते पर धुआँधार दौड़ता हुआ और उन्हें उनकी कार सहित एक खड्ड में फेंकता हुआ निकल गया। उनकी सारी ठेकेदारी ने देखते-देखते दम तोड़ दिया। घर पर उनकी विधवा अपने बच्चों से रो-रोकर कह रही

थी कि उनके पापा खुद को किसीसे भी छोटा नहीं मानते थे, मौत ने उन्हें बेहद छोटा बना दिया।

आदमी अपना बुरा स्वभाव जितनी जल्दी सुधार ले उतना अच्छा है, वरना उसका अंजाम किसी दिन बुरा होना ही है।

आलस्य से मुक्ति

जब आपको भूख लगती है तब आप उसका उपचार करते हैं या नहीं? जब आपके चोट लगती है तब आप उसका इलाज करते हैं या नहीं? जब आपको कोई रोग लगता है तब आप उसकी चिकित्सा करते हैं या नहीं? आलस्य कम बड़ा रोग नहीं है। जब आपके पास आलस्य आए तब आपको उसकी भी छुट्टी करने का हिसाब जरूर जमाना चाहिए। वरना वह आपके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, आपके वक्त और आपकी तरक्की के बहुत से अंश को दीमक के समान चाट डालेगा।

आलस्य का इलाज है मनोबल द्वारा उसे दिया जानेवाला एक तात्कालिक झटका। शरीर और मन की सतत क्रियाशीलता आलस्य की शत्रु होती है। जिसका शरीर और मन चलता रहता है उसके पास आलस्य नहीं टिक सकता; क्योंकि बहते हुए पानी में गंदगी नहीं ठहर पाती। गंदगी को रुका हुआ पानी चाहिए। आलस्य भी अपनी जड़ें जमाने के लिए ठहरे हुए अर्थात् निष्क्रिय शरीर और मन की तलाश करता रहता है।

आलस्य और आराम में बहुत अंतर है। लेकिन आलसियों के आराम की क्या! पढ़ा होगा कि एक आलसी के मुँह पर मक्खियाँ आकर बैठ गईं। उसने पड़ोस में लेटे हुए दूसरे आलसी से कहा कि भाई, जरा मेरे मुँह पर से मक्खियाँ उड़ा दो। पड़ोसी बोला, खुद ही उड़ा लो, मैं आराम कर रहा हूँ। इतने में एक कुत्ता आकर उस पड़ोसी के मुँह पर मूतने लगा। उसने पहले आलसी से कहा कि भाई, जरा कुत्ते को भगा दो। पहला आलसी बोला, तुम भी आराम करो, मैं भी आराम कर रहा हूँ।

आलस्य पास ही न आए, इसके लिए जरूरी है भोजन और परिश्रम की अति से बचना। सही सीमा में किया गया भोजन सही श्रम से पच जाता है और सही श्रम की थकान सही आराम से दूर हो जाती है। अतिरिक्त एवं वर्जित आराम की जरूरत शरीर व मन पर अतिरिक्त और वर्जित बोझ के कारण ही पड़ती है।

भोजन हो या श्रम, आराम हो या चुस्ती, हर बात के सही निर्धारण के लिए पहली आवश्यकता मन पर नियंत्रण की है। वरना यदि आपका मन निश्चय करता है कि आप अफीमची बने रहें तो आपको कोई नहीं रोक सकता।

रिश्वत देनेवाले अधिक बुरे होते हैं

रिश्वत लेकर किसीका काम करनेवाले का चरित्र तो गिरा हुआ होता ही है, रिश्वत देकर अपना काम करवानेवाले का चरित्र उससे भी अधिक गिरा हुआ होता है। कारण क्या है? कारण यह है कि रिश्वत लेनेवाला व्यक्ति केवल स्वयं को भ्रष्ट करता है, जबकि रिश्वत देनेवाला व्यक्ति पूरे समाज को भ्रष्ट करनेवाला होता है। वह रिश्वत लेनेवालों को भी अपने ही समान अंधस्वार्थी बना देता है; क्योंकि दोनों ही स्वयं के लाभ के सामने संसार भर का नुकसान कर सकते हैं। रिश्वतखोर लोग अपनी नौकरी का पूरा वेतन आदि पाने के बावजूद केवल ऐसे लोगों का काम करने के आदी हो चलते हैं, जो उन्हें अलग से रुपए देते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि जिन अधिकारी व्यक्तियों का काम बिना ऊपरी रुपए दिए स्वयं हो जाना चाहिए, वे लटक जाते हैं। आदर्शवादी एवं ईमानदार लोगों की पीड़ा बढ़ती जाती है और तिकड़मी तथा बेईमान लोग मजे मारने लगते हैं।

यदि लोग थोड़े धैर्य और सहनशीलता के साथ ठान लें कि उन्हें इनसानियत के नाम पर किसीको भी रिश्वत नहीं देनी है, तो उनका काम करने के लिए उत्तरदायी लोगों की आदत खराब नहीं होगी और वे नियमानुसार सभी का काम करने के लिए बाध्य हो जाएँगे। आपका काम भी हुए बिना नहीं बचेगा—बिना ऊपरी पैसा दिए। आदमी की नीयत तभी बिगड़ती है, वह तभी बिकता है जब उसके सामने बेईमानी के रास्ते खोल दिए जाते हैं; जिनमें घुसकर वह अवैध और अनैतिकताजन्य अस्थायी लाभ का गुलाम बन जाता है।

रिश्वत के मामले में समाज सुधार की दृष्टि से सजाओं के प्रावधान में पर्याप्त कड़ाई और एक बड़े परिवर्तन की जरूरत है। रिश्वत लेनेवाले भुक्खड़ों को यदि सीधे एक-एक साल की जेल हो तो रिश्वत देनेवाले समाज-प्रदूषकों को दस-दस साल की जेल होनी चाहिए। व्यक्तिगत अपराध करनेवाले की तुलना में सामाजिक अपराध करनेवाला कई गुना भयंकर होता है। जहर खानेवाले की तुलना में जहर खिलानेवाला ज्यादा खतरनाक होता है।

❋ बच्चों का पालन और मध्यम मार्ग ❋

अपने बच्चों को कौन नहीं चाहता! उनकी तरक्की भी कौन नहीं चाहता! लेकिन जो लोग उन्हें केवल लाड़ देते हैं ताड़ना कभी नहीं देते, वे निश्चय ही उनके भविष्य को बिगाड़ रहे होते हैं। उनकी हर बात को मानना और उन्हें किसी भी प्रकार का अभाव न होने देना उन्हें दुनिया की सच्चाई से दूर रखना होता है। उनकी सभी इच्छाएँ पूरी करना उन्हें डाकू जैसा बनने के लिए रास्ता खोलना होता है।

धार्मिक दृष्टि से कहा जाता है कि भगवान् ही एकमात्र 'पूर्ण' हैं, जिसका मतलब यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अपूर्ण है। इस सत्य को ध्यान में रखते हुए आदमी को बचपन से ही हर क्षण यह याद रखना चाहिए कि बहुत सी बातें नहीं पूरी होनेवाली भी होती हैं। यदि बच्चे के संस्कारों में यह जम जाता है कि उसकी प्रत्येक इच्छा पूरी हो जाएगी तो आगे चलकर उसे कई बार या तो भारी निराशाओं का सामना करना पड़ेगा या वह अपनी हर बात मनवाने की कोशिश में अवांछनीय रास्ते अपनाने लगेगा। उसमें स्वाभाविक अभावों को भी सह पाने की क्षमता नहीं रह जाएगी। वह घोर असंतोषी प्रकृति का बन जाएगा। वह मनमानी करने के नाम पर कभी-कभी राक्षस बन जाएगा। वह कभी-कभी अपने माता-पिता को भी खाने के लिए दौड़ने लगेगा। उसे अपने बचपन की गलत आदतों का अंजाम जीवन भर भुगतना पड़ेगा।

दूसरी ओर, बच्चों की बहुत कम इच्छाओं को पूरा किया जाना भी गलत है। न्यूनतम आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति हर बच्चे का अधिकार है। साथ ही उसकी अधिकाधिक जिज्ञासाओं का समाधान भी उसे अवश्य मिलना चाहिए —सकारात्मक भी और नकारात्मक भी। जिन बच्चों की हर बात काट दी जाती है उनका मानसिक विकास सही नहीं हो पाता। उनमें अंदर-ही-अंदर घुटन पैदा हो जाती है। वे या तो हीन भावना के शिकार हो जाते हैं या चिड़चिड़े और उग्र व्यवहार के बीमार हो जाते हैं।

सबसे अच्छा जीवन मध्यम मार्गवाला है। बच्चा यह शुरू से जान जाए कि उसकी अनेक इच्छाएँ पूरी भी होंगी और अनेक इच्छाएँ अधूरी भी रह जाएँगी। उसे प्यार भी खूब मिलेगा, पर गलत जिद पर फटकार भी खूब मिलेगी। उसे उसका ड्यू भाग्य के बहाने से भी मिलना आवश्यक है और संघर्ष के माध्यम से भी।

कुपात्रों की सहायता न करें

मोहल्ले में नगरपालिका निगम की ओर से नाली बनवाने का काम चल रहा था। ठेकेदार के आदमी फावड़े-गेंतियाँ-बालटियाँ आदि तथा सीमेंट की कुछ बोरियाँ एक साहब के मकान में रखते आ रहे थे और जरूरत के हिसाब से वहाँ आना-जाना करते रहते थे। मकान में केवल दो प्राणी थे। पति के अपनी ड्यूटी पर जाने के बाद भी पत्नी की घर में दिन भर उपस्थिति के कारण ठेकेदार के सामान की देखरेख स्वतः हो जाती थी। किसी भी तरफ से कोई शिकवा-शिकायत नहीं थी।

पाँच दिन बाद छठी सुबह पत्नी का अपनी बेटी के यहाँ तीन-चार दिन के लिए बाहर जाना हुआ। जब उस दिन ठेकेदार के आदमी काम पर आए तो पति ने उन्हें स्थिति बताते हुए उनसे कहा कि मेरे ड्यूटी पर जाने के बाद चूँकि घर में ताला लगा रहेगा, इसलिए आप लोग सामान को किसी और के मकान में रखवा दें। जवाब में 'ठीक है' कहकर उन लोगों ने सामान दो मकान आगे पहुँचाने की प्रक्रिया शुरू कर दी। पति महोदय घर के भीतर जाकर अपने ऑफिस जाने की तैयारी करने लगे। इस बीच उन लोगों ने इस बात से चिढ़कर कि उन्हें इस अतिरिक्त ढुलाई से असुविधा हो रही है, मकान में लगा एक बहुत खूबसूरत फूलोंवाला पेड़ बुरी तरह तोड़ डाला। वे लोग जानते थे कि उस पेड़ को पाल-पोसकर दो साल में उतना बड़ा किया गया था। मकानवाला हाय-हाय करता रह गया। ठेकेदार के आदमियों ने यह निम्न स्तरीय हरकत तब भी कर दिखाई जब उन्हें इस मकान में हाथ-पैर धोने और बार-बार पीने का पानी देने का भी पूरा ध्यान रखा गया था।

इस घटना पर आपकी प्रतिक्रिया क्या है? एक सज्जन की प्रतिक्रिया है कि जिस-जिसने वह पेड़ तोड़ा उस-उसका एक हाथ तोड़ दिया जाना चाहिए। दूसरे महोदय की प्रतिक्रिया है कि उनका हाथ तो आगे-पीछे स्वयं टूटेगा ही, क्योंकि ऐसे गलत काम करने की चूँकि उनकी आदत ही है, इसलिए वे अपनी करनी से कहीं और कभी जरूर सजा पाएँगे। तीसरे व्यक्ति ने प्रतिक्रिया में शेख सादी का यह कथन दोहरा दिया कि 'कृतघ्न व्यक्ति वफादार कुत्ते से भी बदतर होता है।'

यदि मकान मालिक चाहता तो ठेकेदार का सामान अपने यहाँ रखने (और उसकी चौकीदारी करने) से पहले दिन ही मना कर सकता था (उसे पूरा हक था), पर उस समय वह अपनी सज्जनता के कारण यह भूल गया था कि हम 'संसार' में रहते हैं, स्वर्ग में नहीं।

इस घटना से हमें यह सीख मिलती है कि हम यह विश्वास कभी न करें कि हमारे अच्छे होने से हमारे प्रति हर व्यक्ति का व्यवहार अच्छा ही होगा। यदि

ऐसा होता तो गांधीजी सौ साल तक अवश्य जीते। यदि ऐसा होता तो आदमी को भगवान् की जरूरत न पड़ती।

जिंदगी में हमारे लिए बहुत सा अच्छा करने के लिए है। हम कुपात्रों की सहायता न करें। हम भेड़ियों को पालने का काम न करें। हम भैंसों को गाना सिखाने में अपना श्रम और समय खराब न करें।

मुसीबत के बीज बोना

एक साहब ने तीन साल पहले अपना मकान बनवाया, जो कच्ची सड़क से थोड़ा हटकर था। मकान और सड़क के बीच में एक अन्य ऐसे व्यक्ति का प्लॉट था, जो किसी दूर के गाँव का निवासी था। मकान के साइड में भी खाली जगह थी। साहब ने अपने यहाँ की नालियों के पानी को तीन साल तक पड़ोस के प्लॉट तथा खाली जगह में लावारिस फैलने और भरने दिया, जहाँ से वह इधर-उधर बहकर कम-ज्यादा सड़क के किनारे की कच्ची नाली में चला जाता था, लेकिन शेष रुके हुए पानी से वहाँ गहरी कीचड़ का मैदान जैसा बन गया था। साहब उसे देखकर भी मस्त रहते थे, क्योंकि वह उनके मकान की दीवारों को नहीं छू रहा था।

सड़क की नाली के दिन फिरे। वह पक्की की गई। सड़क भी काफी ऊँची हो गई। मुँडेरदार नाली को कीचड़ के गड्ढेनुमा मैदान से ऊँचा होना ही था। फलस्वरूप उन साहब का मकान बढ़ते हुए गंदे पानी आदि से चारों तरफ से घिरने लगा, क्योंकि पानी की थोड़ी भी निकासी सड़क की नाली के माध्यम से होनी बंद हो गई। साहब ने तीन साल तक दूसरों की परवाह नहीं की थी, खुद तीन सप्ताह में ही बुरी तरह फँस गए।

यदि वे दूसरे के प्लॉट और साइड की जगह का ध्यान रखते हुए अपने मकान पर दो-ढाई लाख खर्च करने के साथ सिर्फ दो-ढाई हजार और खर्च करके उस समय या तो उस मकान के आँगन में ही सोक-पिट बनवा लेते या फिर उसकी नालियों को साइड से एक नाली बनवाकर सड़क की नाली से जुड़वा देते तो इस समय के भीषण संकट में न फँसते।

जो लोग अपने आसपासवालों की परेशानी के बारे में नहीं सोचते, जो लोग केवल वर्तमान क्षणों के बारे में सोचते हैं—अर्थात् जरा भी दूरदर्शिता नहीं दिखाते, जो लोग बहुत बड़ा खर्च करके भी छोटे से अत्यावश्यक खर्च को करने में चालाकी भरी कंजूसी दिखाते हैं, वे अपने भविष्य के लिए मुसीबत के बीज बोते हैं।

❋ सफाई की जिम्मेदारी ❋

अपने मकान की सफाई तो कुछ 'लीचड़' आदमियों को छोड़कर प्रायः सभी लोग करवाते या करते रहते हैं और मकान के सामने की सफाई भी कुछ लोग करवाने-करने में रुचि ले लेते हैं, पर उसके आगे-पीछे कुछ अधिक दूरी तक के क्षेत्र की स्वेच्छा से सफाई करवाने-करनेवाला आदमी मुश्किल से ही दीखता है। फिर ऐसे सार्वजनिक स्थलों की तो और भी दुर्गति होना 'जरूरी' है, जिनका इंचार्ज अपनी जिम्मेदारी बिलकुल ठीक से नहीं निभाता। अधिकतर सार्वजनिक स्थल ऐसे मिलते हैं, जिनकी नगण्य सी सफाई के लिए भी सामान्यजन कतई हाथ नहीं लगाते; वे उन्हें सिर्फ गंदा करने के लिए पैदा हुए होते हैं। उदाहरण के लिए, मूत्रालयों और शौचालयों में पानी की व्यवस्था होने के बावजूद वे 'विसर्जन' के उपरांत स्थान विशेष पर पानी डालने के काम को अपनी 'साहबी' के हिसाब से बहुत निम्न स्तर का समझते हैं और वही लोग वहाँ पिछले इस्तेमालियों द्वारा छोड़ी गई गंदगी व बदबू को देखकर 'त्यागियों' को बुद्धिहीन और असभ्य कहते नहीं थकते। ऐसे लोगों को सदा अपनी ही सुविधा और अपनी ही बात सही दीखती है। जरा टटोलिए कि क्या आप भी ऐसे 'असामाजिक जबाँदराजों' में शामिल हैं?

अपढ़-गँवारों की बात छोड़िए, एक शिक्षा संस्थान की बात है कि वहाँ के 'केवल पुरुषों के लिए' प्रसाधनकक्ष में एक दिन संस्थान के एक 'सही आदमी' ने प्रवेशद्वार के पास कुछ अंदर को बीचोबीच फेंका गया एक बड़ा सा फटा लिफाफा बाहर से देखा। अपनी सहज आदत के अनुसार वे उसे उठाकर कोने में रखी कूड़े की टोकरी में डालने के लिए बढ़े ही थे कि एक सज्जन उन्हें किसी जरूरी काम से अपने साथ आगे बढ़ाते हुए ले गए। 'सही आदमी' ने बताया कि वह लिफाफा अगले दिन तक वैसा ही पड़ा रहा, जबकि कक्ष में उतनी अवधि में कई दर्जन छात्र, अध्यापक और अन्य कर्मचारी आते-जाते रहे थे। यह हाल है हमारे पढ़े-लिखे लोगों का। ऐसा नहीं हो सकता कि उस कूड़ा-लिफाफे पर हर आने-जानेवाले की नजर न पड़ी हो, लेकिन प्रत्येक की 'कुशाग्र बुद्धि' ने तत्काल यह फैसला कर लिया होगा कि यदि उसने लिफाफा उठाकर कूड़े की टोकरी में फेंका तो उसकी सारी इज्जत भी उस टोकरी में जा पड़ेगी। पता नहीं, हमारा प्रबुद्ध वर्ग कब तक इस कुंठा में जीता रहेगा कि वैसा काम केवल भंगी का है। यदि हमने अपनी इस प्रकार की मनोवृत्ति नहीं बदली तो हम हमेशा बाहरी गंदगी से घिरे रहेंगे और जीवन भर दूसरों को दोष देते रहेंगे कि वे सफाई क्यों नहीं करवाते। घर से बाहर चलने के लिए भी अपने ही पैरों की पहली जरूरत होती है।

दिल से अच्छा आदमी

जब हम किसीके लिए यह कहते हैं कि वह आदमी दिल से अच्छा है तो उसका मतलब यह होता है कि वह ऐसे लोगों से भिन्न है, जो अपनी शक्ल-सूरत से, धन-संपत्ति से, विद्वत्ता से या ऊपरी व्यवहार से भले ही अच्छे हों, पर निष्कपटता के साथ दूसरों का ध्यान रखनेवाले नहीं होते।

दिल से अच्छा आदमी वही माना जाता है, जो 'दूसरों' के लिए अच्छा होता है, वरना 'अपने लिए अच्छे' तो सभी होते हैं।

दूसरों के लिए अच्छा होने के लिए व्यक्ति में बहुत से गुणों का होना अनिवार्य है; जैसे—उदारता, त्याग की भावना, सहनशीलता, मृदुभाषिता, सामाजिक उत्तरदायित्व-बोध और तदनुसार सक्रियता, कर्तव्यपरायणता, पक्षपातहीन व्यवहार और अच्छाई में ईमानदारी के साथ निष्ठा आदि।

हममें से अधिकतर लोग हर ऐसे व्यक्ति को दिल से अच्छा कह देते हैं, जो 'हमारे और उनके लिए' अच्छा होता है। लेकिन यह दृष्टिकोण सीमित है। हम स्वार्थ के तराजू को अंतिम न मानें। 'असल में अच्छा' वह है, जिसे अधिकाधिक लोग अच्छा मानें, अच्छे लोग अच्छा मानें और सरल, निश्छल एवं ईमानदार लोग अच्छा मानें।

संसार में 'सबसे अच्छा व्यक्ति' कोई नहीं होता। दूसरे शब्दों में, अच्छे-से-अच्छा व्यक्ति भी ऐसा नहीं होता, जिसे सब लोग अच्छा मानें। इसका कारण यह है कि हर आदमी कम-ज्यादा गलतियों का पुतला है। मनुष्य-मनुष्य में सदा नैसर्गिक रुचि-भेद रहता है और सभी लोगों का सामाजिक दायरा और परिवेश भिन्न रहता है।

दिल से अच्छा होना बहुत ही बड़ी बात है। उसके लिए अत्यधिक साधना की जरूरत है। ऐसा आदमी दिल से किसीका बुरा नहीं चाहता। (बुरे लोग अपनी बुराई के शिकार होकर समाज के साफ-सुथरे वर्ग के द्वारा खुद तिरस्कृत होते रहते हैं।)

यदि हमें स्वयं को दिल से अच्छा आदमी बनाना है तो उसका आसान लगनेवाला तरीका यह है कि हम दूसरों के सिर्फ गुणों को देखें और अपने सिर्फ अवगुणों को देखें—अपने गुणों को देखने का ठेका दूसरों को दे दें।

आत्मकथाएँ और जीवनवृत्त

किसी ईमानदार आत्मकथा का मूल्य व्यक्तिगत कम, सामाजिक अधिक होता है। उसे प्रायः वही लोग लिखते हैं, जिन्हें 'लिखना' आता है और जिनके खाते

में कुछ ऐसी उपलब्धियाँ होती हैं, जिनसे दूसरों को कुछ पेरणा मिल सके। वे जनहित के लक्ष्य से अपने दोष भी नहीं छिपाते। यदि आत्मकथाएँ न लिखी जातीं तो हमें आत्मकथाकारों के जीवन के न जाने कितने ऐसे तथ्यों का पता न चल पाता, जो वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों के लिए विविध संदेशों (उपदेशों और वर्जनाओं) का काम करते हैं। इतिहास को पुष्ट करने की दिशा में भी आत्मकथाओं का योगदान स्वयंसिद्ध है।

बायोडाटा या जीवनवृत्त को आत्मकथा का लघुतम प्रकार कहा जा सकता है। उसे आवेदन और निवेदन का ऐसा रूप माना जाना चाहिए, जिसके आधार पर प्रस्तुतकर्ता स्वयं को समाज में स्थापित करना चाहता है। वह चाहता है कि उसे अधिकाधिक लोग जानें। 'जंगल में मोर नाचा, किसने देखा।' पुस्तकों के फ्लैप पर भी लेखक का संक्षिप्त जीवनवृत्त इसीलिए छापा जाता है कि पाठकवृंद पुस्तक खोलते-खोलते कम-से-कम इतना जरूर जान लें कि लेखक आदमी है या पाजामा!

यदि आपकी आँखों के सामने किसीका जीवनवृत्त आता है तो नाराज मत होइए और उसे 'विज्ञापन' मानिए। हर विज्ञापनदाता अपना माल खपाने के लिए तरह-तरह के उपाय करता है, खूब प्रचार करता है। अब यह आपपर निर्भर करता है कि आपको विज्ञापित सामग्री में से क्या पसंद आता है और क्या नहीं। यदि सामग्री आपके काम की है तो आप विज्ञापन को देखकर खुश हो सकते हैं, लेकिन यदि वह आपके काम की नहीं है तो आप अपनी मूँछों पर ताव देकर सीधे अपने शयनकक्ष में जा सकते हैं।

किसीका जीवनवृत्त 'किसीकी खुशी' का बानक हो सकता है और 'किसीकी ईर्ष्या' को बढ़ा सकता है। खुशी का बानक उसके लिए जिसे किसीकी तरक्की देखकर ईर्ष्या नहीं होती और ईर्ष्या का उत्पादक-वर्धक उसके लिए, जिसे किसीकी तरक्की देखकर खुशी नहीं होती।

हर आदमी की करनी उसके हाथ में है। आप तो बस कर्म करते रहिए, फल समाज देगा। आत्मकथाओं और जीवनवृत्तों से परहेज मत कीजिए—न अपने, न दूसरों के। अच्छे और बुरे कर्मों के समान समाज में लोग भी अच्छे और बुरे होते हैं। हर आदमी अपनी आवश्यकताओं, क्षमताओं और सीमाओं के हिसाब से ही तथ्यों का मूल्यांकन करता है। यदि आप मोती हैं तो आपको हंस चुगेंगे ही—और हंस ही चुगेंगे। यदि आप विष्ठा हैं तो आपकी कद्र केवल कौए करेंगे। कौए मोती का मूल्य नहीं जानते; बंदर अदरक का स्वाद नहीं जानते; गर्दभ संगीत का रस नहीं जानते।

❋ मोक्ष यहीं है ❋

सब जानते हैं कि आदमी को अपनी इच्छाएँ पूरी करने के लिए उसका 'एक सामान्य जीवन' कम पड़ता है। इस अपूर्णता पर विजय पाने के लिए उसे 'विशेष जीवन' जीना जरूरी होता है। यह विशेष जीवन क्या है? यह है इच्छाओं में कटौती करते रहना; जो इच्छाएँ पूरी न हो सकती हों उन्हें त्यागते जाना और जो इच्छाएँ पूरी होती जाएँ उनका पूर्ण संतोष की सीमा तक स्वागत करते जाना। यह सब करना बेहद कठिन है, इसीलिए आदमी को आसानी से मोक्ष नहीं मिला करता।

'मोक्ष' का जाना-पहचाना अर्थ है 'आदमी की बार-बार जन्म लेने से मुक्ति'। प्रायः हर मनुष्य अपनी मृत्यु के समय किसी-न-किसी दृष्टि से अतृप्त रह जाता है—'मेरे अमुक काम अधूरे रह गए; मैं यह काम और पूरा कर लेता; मैं वह काम और पूरा कर लेता।' आदमी मरते समय अपनी बची हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए और अधिक जीने या फिर से जन्म लेने की चाह रखता है। चूँकि उस समय वह पूर्णकाम नहीं हो पाता, इसीलिए कह दिया जाता है कि उसे मोक्ष नहीं मिला।

'मोक्ष' का व्यावहारिक अर्थ निकलता है 'कामनाओं का शेष न रह जाना अर्थात् अतृप्तियों से मुक्त हो जाना।' यदि हम जीवन में अपने द्वारा खींची जानेवाली सीमाओ तक संतुष्ट होते जाएँ, यदि हम अपनी अधूरी रह जानेवाली इच्छाओं को उनके ही हाल पर छोड़कर उनसे किनारा करते जाएँ और यदि हम इस ज्ञान के साथ सुख को अपनी मुट्ठी में ही बंद करके रखना सीख जाएँ कि किसी भी आदमी को सबकुछ कभी नहीं मिला करता तो मृत्यु के समय हमारी आत्मा अतृप्ति के जाल में फँसी हुई नहीं रहेगी। जरा रोज का हिसाब लगाकर देखिए। मनुष्य पाता बहुत ज्यादा है, खोता अपेक्षाकृत बहुत कम है। वह जीता प्रत्येक दिन है, मरता सिर्फ एक दिन है। मोक्ष की स्थिति हर व्यक्ति हासिल कर सकता है; क्योंकि हर व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि उसने अपने विवेक की तुला पर तौलकर जितना उसके कर्मों के हिसाब से संभव हुआ उतना यहीं पा लिया। इस प्रकार, मोक्ष वस्तुतः जीवन भर के क्रिया-कलाप से सामूहिक रूप से मिलनेवाले परम संतोष के अलावा कुछ नहीं है।

❑❑❑